अहिंसा महाव्रत के अन्तर्गत अन्य सम्प्रदाय इन्हें भूल ही जाते हैं किन्तु जैन साधुओं को इन्हें नहीं भूलना है। यह है महावीर का वैदिक देवताओं के प्रति दृष्टिकोण।

२. यहां यह उल्लेखनीय है कि स्वयं ब्राह्मण परम्परा में ही केनोपनिषद् के यक्षोपाख्यान में ये ही देवता अत्यन्त असमर्थ रूप में दिखाए गए हैं। वहां अग्नि अथवा वायु अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी एक तिनके को न जला सके, न उड़ा सके। इस प्रकार वैदिक धर्म की आध्यात्मिक परम्परा में वैदिक देवताओं का उपयोग परमसत्ता, ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता प्रदर्शित करने के लिए किया जा रहा है और उधर जैन परम्परा में उन्हीं तत्त्वों का स्वरूप बतला कर अहिंसा व्रत की सीमाओं को बढ़ाया जा रहा है।

अग्नि, जल तथा वायु जैसे देवताओं का जिनका भौतिक स्वरूप वेदों में स्पष्ट था—इस प्रकार अवमूल्यन होने पर पौराणिक काल में ये देवता जो वैदिक काल में प्रमुख थे—गौण हो गए। किन्तु इन्द्र जैसे कुछ देवता जिनका भौतिक स्वरूप स्पष्ट न था—अपनी प्रमुखता बनाए रहे। इन्द्र का भौतिक स्वरूप स्पष्ट न होने के कारण ही केनोपनिषद् के यज्ञोपाख्यान में भी इन्द्र को अग्नि और वायु के समान असमर्थ नहीं दिखला कर अपेक्षाकृत समर्थ बताया गया यद्यपि वह सर्वसमर्थ नहीं है। इधर जैन परम्परा में भी इन्द्र का देवत्व स्वीकार कर लिया गया और तीर्थंकरों की महिमा को बढ़ा-चढ़ा कर दिखलाने के लिए उनकी सेवा में अनेकानेक इन्द्रों की नियुक्ति करने के रूप में इन्द्र का उपयोग हुआ। किन्तु आचारांग में किसी भी देवता का उल्लेख न होना इस बात की ओर संकेत करता है कि सम्भवत: यह प्रवृत्ति महावीर के बाद की है।

आचारांग की एक प्रमुख विशेषता है—अति लौकिक तत्त्व (सुपर नेचुरल एलिमेंट) का अभाव। सभी धर्म किन्हीं अतिलौकिक तत्त्वों में विश्वास रखते हैं। निन्दा की भाषा में इन विश्वासों को अन्धविश्वास तथा मध्यस्थता की भाषा में माईथोलॉजी या पौराणिक तत्त्व कहा जाता है। नरक-स्वर्ग की कल्पना, देव, यक्ष, गन्धर्वों की कल्पना, दिव्य शक्तियों की कल्पना, विचित्र पदार्थों की कल्पना आदि माईथोलॉजी के अन्तर्गत आते हैं।

आचारांग की यह विशेषता है कि इसमें ऐसी किसी कल्पना को कोई स्थान नहीं दिया गया। पूरी जैन परम्परा में ऐसी कल्पनायें भरी पड़ी हैं किन्तु इस प्रकार की कल्पनाओं के लिए अवकाश होने पर भी आचारांग में उनका उल्लेख न होना मुझे महत्त्वपूर्ण लगा। नरक शब्द का उल्लेख इस रूप में हुआ है कि हिंसा ही नरक है—एस खलु णरए (१. २. २५, १. २. ७६, १. ५. १०७, १ ६. १३४, १. ७. १५८)। यह नरक शब्द का लाक्षणिक

प्रयोग है, और नरक शब्द का इस प्रकार का प्रयोग तो बिना नरक स्वर्ग की कल्पना में विश्वास किए भी किया जा सकता है। आचारांग का प्रमुख स्वर संसार की दुःखमयता बताना होते हुए भी कहीं ऐसा संकेत नहीं है कि जीवात्मा नरक योनियों में जाकर दुःख भोगता है। जो दुःख हैं वे इसी पृथ्वी पर इसी जीवन के साक्षात् अनुभव में आने वाले दुःख हैं—विषयवासना दुःख है, ज्ञानदर्शन की दरिद्रता दुःख है (६.१३), भय (३६.१२४), आसक्ति (७०.२) अर्थार्जन की इच्छा (७०.३), शरीर की क्षणिकता (७०.४), वृद्धावस्था (७२.६), अंगभंगता (८०.५४) सम्पद्विनाश (८४.६८) कामना (९४.१२३) तथा रोग (२२८.८)—ये सब दुःख हैं। किन्तु परवर्ती जैन तथा अजैन साहित्य में उपलब्ध होने वाले तपे हुए लोहे के खम्भों तथा उबलते हुए तेल के कड़ाहों का भय दिखाकर पाप से निवृत्त कराने की प्रवृत्ति का आचारांग में सर्वथा अभाव है।

इसी प्रकार आचारांग में स्वर्ग का प्रलोभन दिखाकर धर्म में प्रवृत्त कराने की प्रवृत्ति का नितान्त अभाव है। स्वर्ग के सुख को तो क्या, आचारांग में मोक्ष तक के सुख का लोभ भी नहीं दिया गया। संसार के स्वभाव को यथा तथ्य रूप में रखते हुए संयम के मार्ग को दुःखनिवृत्ति का मार्ग बतलाना आचारांग की विशेषता है। वेदान्त में आनन्दोपलब्धि का स्वर अवश्य उपनिषत्काल से ही प्रमुख रहा है तथा परवर्ती जैन साहित्य में भी वह उभर कर आया है किन्तु आचारांग जैसे प्रारम्भिक ग्रन्थ में उसका अभाव कम महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता।

उल्लेखनीय है कि वैदिक (संहिता कालिक), इस्लाम तथा ईसाई धर्म जैसे उन धर्मों में जहाँ पुनर्जन्म की स्वीकृति नहीं है धर्माचरण का चरम लक्ष्य स्वर्ग-प्राप्ति ही है। किन्तु मोक्ष-लक्ष्य-परम्पराओं में स्वर्ग का स्थान ऊँचा नहीं माना जा सका है। प्रत्युत वहाँ देवों की अपेक्षा संयमी मानव की स्थिति अधिक गरिमामय है। ऐसी स्थिति में आचारांग में स्वर्ग का उल्लेख न होना महत्त्वपूर्ण ही है। आचारांग का चिन्तन धर्म को परलोक से न जोड़कर इहलोक में ही संयमाचरण पर बल देने की दिशा में लगता है। किन्तु आगमयुग के प्रारम्भिककाल के बाद जैन परम्परा भी स्वर्ग को पर्याप्त महत्त्व दे रही है स्वर्ग के विस्तृत वर्णन में रस ले रही हैं। वैदिक परम्परा यज्ञ-प्रधान है और यज्ञ का मुख्यतम फल स्वर्ग है। जैन परम्परा संयम-प्रधान है और संयम का फल भोग-निवृत्ति है। ऐसी स्थिति में भोगों के आधार स्वर्ग को संयम का आनुषंगिक फल बताना एक विचित्र विरोधाभास उत्पन्न करता है। ब्रह्मचर्य-पालन का फल परलोक में अप्सराओं

की प्राप्ति बताना हास्यास्पद लगता है—चाहे वह फल आनुषंगिक ही क्यों न हो। आचारांग के अनुशीलन से यह मत बनता है कि महावीर इस लोक में मनुष्य जीवन में संयम द्वारा जीवन की पवित्रता को ही धर्म के लिये पर्याप्त मानते थे। उसके लिये स्वर्ग-नरक की इतनी विस्तृत कल्पना और देवी-देवताओं की सेना को वे अनावश्यक समझते थे। किन्तु यज्ञ-प्रधान, देव-प्रधान तथा स्वर्ग-प्रधान वैदिक संस्कृति के प्रभाव से परवर्ती जैन परम्परा में भी इन सब विषयों को इतने विस्तार से दिया जाने लगा।

आचारांग में जो ज्ञान निहित है उसका स्रोत अलौकिक है—ऐसा भी कहीं उल्लेख नहीं है। वैदिक ऋषियों को मन्त्रों का दर्शन होता है। ईसामसीह या कुरान का ज्ञान भगवान् की ओर से अवतरित होता है, किन्तु आचारांग के सूत्र जीवन के मन्थन से उद्भूत होते हैं। आचारांग सूत्र तो भगवान् महावीर के लिये कहीं सर्वज्ञता का भी दावा नहीं करता और न किसी ज्ञान की प्रामाणिकता को केवल ज्ञान पर आधारित करता है। वह तो मानों इतना ही कहता है कि जीवन का सत्य ऐसा ज्ञात होता है कोई अप्रमाद की साधना करे—आज की भाषा में आंख कान खोलकर देखे—तो उसे भी यह सत्य दिख सकते हैं। ईश्वरीय ज्ञान को किसी पुस्तक वेद, कुरआन या बाइबिल के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। मुझे लगता है कि परवर्ती जैन परम्परा शायद जैनागम तथा वेद जैसी ईश्वरीय ज्ञान कहाये जानी वाली पुस्तकों के बीच इस मौलिक भेद भाव को भूल सा गयी है।

कहा जा सकता है कि आचारांग तो आचरणानुयोग का ग्रन्थ है और इसलिये उसमें कथानुयोग के ग्रन्थों में ही उपलब्ध होने वाले अतिलौकिक तत्त्व नहीं मिलते। किन्तु आचारांग में महावीर के जीवन का भी उल्लेख है। महावीर के जीवन से अनेकानेक अतिलौकिक घटनायें जुड़ी हैं, उनमें से किसी का भी उल्लेख आचारांग नहीं करता। महावीर पर अनेक उपसर्ग आते हैं—उन पर प्रहार हुए, उनके शरीर का मांस तक काटा गया, उन पर लोगों ने थूका, उनके पीछे कुत्ते लगाये (३३३.४ ११) किन्तु किसी देवता ने उनकी कोई सहायता न की। उन्होंने एक सामान्य साधु की तरह समभाव से प्रिय-अप्रिय की भावना मन में लाये बिना उन्हें सहन किया। यही उनकी गरिमा है। यदि कोई देवता या यक्ष उनके बचाव के लिये बीच में आ जाता तो शायद उनके चरित्र की वह ऊँचाई न रह पाती जो उन उपसर्गों को निहत्थे रहकर सहन करने में है। ऐसी परिस्थिति में देव या यक्ष का हस्तक्षेप आज के युग में सन्देह तो उत्पन्न करता ही है चरितनायक के तपस्वी जीवन की उज्ज्वलता को भी अजागर नहीं होने देता। शायद ही किसी अन्य धर्म-ग्रन्थ ने अपने चरितनायक का इतना अतिशयोक्ति पूर्ण चित्र खींचा हो जितना

महावीर का आचारांग ने खींचा है। सामान्य व्यक्ति को महत्त्व देने वाले इस युग में महावीर का यह चित्र बहुत मूल्यवान् हो गया है। आचारांग के महावीर के पास पवित्रता के अतिरिक्त कोई सिद्धि नहीं, संयम के अतिरिक्त कोई मन्त्र नहीं, चरित्र के अतिरिक्त कोई देव उनकी रक्षा नहीं करता। न पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर उठकर चलते हैं, न जन्म से अवधि ज्ञान के स्वामी हैं। वे नितान्त साधारण साधु हैं जिनकी असाधारणता इस बात में है कि उनकी इच्छा शक्ति को संसार की कोई विपत्ति रंचमात्र भी विचलित नहीं कर सकती। जिन अलौकिक अतिशयों के आवरण में लपेटकर परवर्ती जैन परम्परा ने उन्हें प्रस्तुत किया वे आवरण उस युग में पूज्य रहे होंगे किन्तु आज के युग में तो उनका आचारांग में सुरक्षित निरावरण रूप ही अधिक पूज्य है और क्योंकि यह निरावरण रूप जैन परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ में उपलब्ध रूप है इसलिये यदि मैं यह कहूं कि यही रूप सत्य के निकटतम भी है—तो शायद गलत न होगा। भगवती जैसे अपेक्षाकृत परवर्ती आगम में जहाँ महावीर के जीवन के साथ बहुत से अतिशय जोड़े गये हैं वहाँ महावीर के जीवन की आध्यात्मिक तेजस्विता उतनी प्रबल न रह कर मन्द हो गई है। उदाहरणतः गोशालक का प्रसंग लें। गोशालक पर वैश्यायन नामक तपस्वी द्वारा तेजोलिश्या का प्रयोग किया जाता है। महावीर शीतलेश्या के प्रयोग द्वारा उसे बचा लेते हैं। आचारांग में महावीर अपने पर उपसर्ग आने पर जिस समता का परिचय देते हैं भगवती में उस समता की अपेक्षा वे ममता का मार्ग अपनाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इसीलिए जैन आगमों के आचार्य भिक्षु जैसे मर्मज्ञ को इस प्रसंग को महावीर की छद्मावस्था की चूक बतलाना पड़ा। मुझे इस घटना की सत्यता में ही सन्देह है और वह इसलिए कि गोशालक का पूरा प्रसंग आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक को हेय दृष्टि से प्रस्तुत करता है—ऐसी गन्ध आती है। मैं ऐसे प्रसंगों को जिनमें दूसरे धर्म के आचार्यों को निन्दा की दृष्टि से देखा गया हो महावीर की मूल भावना के विरुद्ध समझता हूँ और इसकी पुष्टि में आचारांग के उन प्रसंगों को रखना चाहता हूं जिनमें सत्य की गवेषणा के प्रसंग में ऐसे उल्लेख हैं जहाँ यह निर्देश किया गया है कि कुछ लोग अमुक-अमुक सदोष कार्यों को निर्दोष मानते हैं, (२०.५९) किन्तु ऐसे लोगों को किसी प्रकार का बुरा-भला कहने की प्रवृत्ति का आचारांग में नितान्त अभाव है। विपरीत वृत्ति वा व्यक्ति के प्रति मध्यस्थभाव महावीर के उपदेश का सार है मध्यस्थभावो विपरीतवुत्तौ।" भगवती के गोशालक प्रसंग में गोशालक को जिस अपमानित स्थिति में प्रस्तुत किया गया है मैं नहीं मानता कि महावीर वैसा करेंगे। जैन संघ की समय-समय पर कैसी मनःस्थिति रही इसका ऐतिहासिक अध्ययन करने के लिए भगवती के गोशालक प्रसंग जैसे प्रसंग बहुत उत्तम

हैं। इस प्रसंग में केवल महावीर द्वारा गोशालक के बचा लेने का ही उल्लेख नहीं है प्रत्युत एक मुनि द्वारा तेजोलेश्या के प्रयोग से गोशालक को भावी विमलवाहन राजा के भव में सुमंगल मुनि द्वारा घोड़े रथ और सारथि सहित भस्म कर दिये जाने का भी उल्लेख है। यह सब इस बात का सूचक है कि जैन मुनियों पर अनेक प्रकार के अत्याचार किये जाते थे और जैन मुनि कदाचित् उन अत्याचारों से विचलित होकर अहिंसा का मार्ग छोड़ भी देते थे। किन्तु यह यथार्थ है, आदर्श नहीं। आदर्श को जानना हो तो हमें फिर आचारांग की ओर लौटना होगा जहाँ समता का सिद्धान्त अपने मूलरूप में सुरक्षित है।

भारत के सभी सम्प्रदायों में यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि योगी योग द्वारा प्राप्त सिद्धियों का न उल्लेख करते हैं, न प्रयोग करते हैं, न प्रदर्शन। आचारांग में इस सिद्धान्त का जिस परिपूर्णता से पालन हुआ है उतना परवर्ती जैन साहित्य में नहीं हो सका। परिणाम यह हुआ कि परवर्ती साहित्य में महावीर एवं जैन साधु साध्वियों के साथ अनेक सिद्धियों का सम्बन्ध जोड़ा गया और अधिकांश स्थलों पर ऐसी सिद्धियों का प्रयोग करते हुए चरितनायक को इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है कि उस पर सूक्ष्म राग-द्वेष का आरोप आ जाता है। इस कलंक पंक से मुक्त होने के कारण आचारांग का स्थान न केवल आगमेतर जैन साहित्य में प्रत्युत जैनागम साहित्य में भी अद्वितीय ही है। आधुनिक युग में जबकि योग प्राप्यसिद्धियों को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है आचारांग का यह स्वरूप और भी अधिक युगग्राह्य हो जाता है। देवी-देवता, स्वर्ग-नरक, शाप-वरदान के पौराणिक तत्त्वों से मुक्त करके धर्म को जीवन विज्ञान के रूप में प्रस्तुत करना आचारांग का धर्म के क्षेत्र में एक बड़ा वरदान था। किन्तु स्वयं जैन परम्परा पौराणिक तत्त्वों में इतनी उलझ गई कि यह योग-दान भुला दिया गया।

20

जैनदर्शन में प्रामाण्यवाद

सर्वदर्शनसंग्रहकार ने प्रामाण्यवाद के सम्बन्ध में प्रायः सभी भारतीय परम्परा की मान्यताओं का संग्रह किया है—

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः ।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः ॥
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः ।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम् ॥[1]

किन्तु इन संग्रह श्लोकों में जैन मान्यता का कोई उल्लेख न होना जहां एक ओर प्राचीनकाल से की जा रही जैनदर्शन की उपेक्षा का परिचायक है वहां दूसरी ओर इस तथ्य की ओर भी इंगित करता है कि जैन दार्शनिकों ने प्रामाण्यवाद की समस्या पर सम्भवतः कोई मौलिक योगदान नहीं किया। फिर भी इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि मध्ययुगीन जैन दार्शनिकों ने प्रामाण्यवाद का विस्तृत विवरण दिया है[2] और आज के ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन के युग में जैन-दर्शन के प्रामाण्यवाद सम्बन्धी विचार के बिना उल्लेख किये प्रामाण्यवाद की चर्चा को पूर्ण मानना एक दुराग्रह होगा। वस्तुतः बौद्धचिन्तक शान्तरक्षित की विचार पद्धति से प्रभावित होने पर भी यह कहना उपयुक्त होगा कि प्रामाण्यवाद के सम्बन्ध में जैन विचारधारा एक सामान्य व्यक्ति के विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। ऐतिहासिक दृष्टि से यद्यपि इस चिन्तन की मौलिकता का श्रेय शान्तरक्षित को है किन्तु शान्तरक्षित का अपनी ही परम्परा में यह चिन्तन उनके आगे न चल सका जबकि जैन परम्परा ने उधार लेकर भी इस चिन्तन का अनवरत पोषण किया। सम्भवतः एक बौद्ध आचार्य द्वारा उद्भूत होने पर भी समग्र दृष्टि की अनुकूलता की उपेक्षा से यह चिन्तन जैन न्याय के अधिक निकट है।

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह, जैमिनिदर्शन, (सम्पा० अभ्यंकर) पृ० २७६

२. द्रष्टव्य—तत्त्वार्थ-श्लोक-वार्त्तिक पृ० १७५
प्रमाणपरीक्षा पृ० ६३ — प्रमेयरत्नमाला १/१२/३
प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ३८ — न्यायकुमुदचन्द्र पृ० १६५ (प्र० मा०)
सन्मतिटीका पृ० २ — रत्नाकरावतारिका पृ० ११०
स्याद्वादरत्नाकर पृ० २४० — विश्वतत्त्वप्रकाश पृ० १०१

वादिदेव सूरि ने प्रमेयाव्यभिचारित्व को ज्ञान का प्रामाण्य माना है।[३] इसके विपरीत अप्रामाण्य उस ज्ञान का होगा जो प्रमेयव्यभिचारी हो।[४] रत्नप्रभाचार्य ने इस संदर्भ में हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि ज्ञान का प्रमेयव्यभिचारित्व ज्ञानव्यतिरिक्त बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से समझना चाहिये क्योंकि कोई ज्ञान अपनी अपेक्षा से सदा ही प्रमाण होता है अतः प्रमाण या प्रमाणाभास होने का प्रश्न बाह्य अर्थ की अपेक्षा से ही उठाया जाना संभव है।[५] इस स्पष्टीकरण की आवश्यकता इसलिए हुई है कि जैनदर्शन ज्ञान को अद्वैतवादी, प्रभाकर मीमांसक और बौद्धों की भांति स्वप्रकाश मानता है। साथ ही वह ज्ञान को परप्रकाशक भी मानता है। इस प्रकार किसी भी ज्ञान के प्रमेय दो होते हैं—एक तो स्वयं वहां ज्ञान और दूसरा वह बाह्य पदार्थ जो उस ज्ञान का विषय हो।[६] स्वयं ज्ञान रूप प्रमेय की अपेक्षा प्रत्येक ज्ञान प्रमाण ही होता है अतः प्रामाण्य का प्रश्न बाह्य पदार्थ रूप प्रमेय की अपेक्षा से है।

पंडित सुखलालजी संघवी का कहना है कि ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाण्यवाद की चर्चा का मूल वेदों के प्रामाण्य मानने और न मानने वाले दो पक्षों के बीच है। वेद-प्रामाण्यवादियों में न्याय-वैशेषिक दर्शन ने प्रामाण्य को परतः मानते हुए वेद का प्रामाण्य ईश्वर मूलक स्थापित किया। मीमांसक वेदप्रामाण्यवादी थे किन्तु ईश्वरवादी न थे। अतः उन्होंने वेद को नित्य तथा अपौरुषेय मानकर स्वतः प्रामाण्यवाद का सहारा लिया।[७] जैन न वेदप्रामाण्यवादी थे न ईश्वरवादी। किन्तु आगमप्रामाण्यवादी अवश्य थे। उनके आगमों को प्रमाण मानने का आधार यह था कि आगमों के कर्त्ता सर्वज्ञ और वीतराग हैं। अतः

---

३. प्रमाणनयतत्त्वालोक, अहमदाबाद, (१९६५) १-१९ 'ज्ञानस्यप्रमेयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम्।'

४. वही १-२० 'तदितरत्वप्रामाण्यम्'।

५. उपर्युक्त पर 'रत्नाकरावतारिका'—'तस्मात् प्रमेयाव्यभिचारित्वात्, इतरत् प्रमेयव्यभिचारित्वम्, अप्रामाण्यं प्रत्येयम्। प्रमेयव्यभिचारित्वं च ज्ञानस्य व्यतिरिक्तग्राह्यापेक्षयैव लक्षणीयम्, स्वस्मिन् व्यभिचारस्यासंभवात्। तेन सर्वं ज्ञानं स्वापेक्षया प्रमाणमेव, न प्रमाणाभासम्। बहिरर्थापेक्षया तु किञ्चित् प्रमाणम्, किञ्चित् प्रमाणाभासम्।'

६. जैन तर्क-भाषा, दिल्ली, १९७३ पृ० १ पं० ४ 'स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम'

७. प्रमाणमीमांसा, अहमदाबाद-कलकत्ता, १९४९-भाषा-टिप्पणी पृ० १६-१७।

उनकी वाणी प्रमाण होनी चाहिए। इस दृष्टि से जैन नैयायिक के अधिक निकट आता है क्योंकि ये दोनों ही आगम का प्रामाण्य तत्कर्तृमूलक मानते हैं न कि अकर्तृमूलक या नित्यतामूलक। ऐसा लगता है कि जैन दृष्टिकोण की न्याय के दृष्टिकोण से इस समानता के कारण जैन दार्शनिकों ने औपचारिक रूप से स्याद्वाद का सहारा लेकर प्रामाण्य को उत्पत्ति में परतः तथा ज्ञप्ति में आभास दशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः माना है और इस प्रकार अपनी स्थिति न्याय-मीमांसा के मध्यवर्ती जैसी बनानी चाही है किन्तु जैन ग्रन्थों पर दृष्टिपात करने से यह प्रतीत होता है कि वस्तुतः जैन दार्शनिक मीमांसक मत की ही आलोचना में अधिक तत्पर हैं और नैयायिकों से इस विषय में उनका मतभेद अधिक प्रखर नहीं है। (इस लेख में अभ्यासदशा तथा अनभ्यासदशा शब्दों का प्रयोग इसी ग्रन्थ में 'प्रामाण्यवाद' लेख के अन्तर्गत किये गये प्रयोग के ठीक विपरीत है क्योंकि जैन परम्परा में न्याय वैशेषिक परम्परा के ठीक विपरीत अर्थों में ही इन शब्दों का प्रयोग किया गया है।) रत्नप्रभाचार्य का कहना है कि अभ्यासदशा में ज्ञान का प्रमेय से अव्यभिचारित्व अथवा व्यभिचारित्व संवादक ज्ञान अथवा बाधक ज्ञान का सहारा लिये बिना ही स्वतः हो जाता है जबकि अनभ्यासदशा में प्रामाण्याप्रामाण्य का निश्चय संवादक बाधक ज्ञान पर अवलम्बित रहता है।[८]

जैन-दर्शन ग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसा मत ही विस्तृत रूप में उल्लिखित है। मीमांसा मत की जैन-दर्शन ग्रन्थों में की गई आलोचना का विवरण देने से पूर्व हम प्रथम सूचीकटाहन्याय से न्यायदर्शन तथा जैन न्याय के पारस्परिक मतभेद का उल्लेख कर रहे हैं। मीमांसादर्शन में न्याय के परतः प्रामाण्य के सिद्धान्त के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई गई है कि यदि एक ज्ञान का प्रामाण्य दूसरे ज्ञान के प्रामाण्य के आधीन माना जाए तो दूसरे ज्ञान का प्रामाण्य तीसरे ज्ञान के आधीन होगा। इस प्रकार अनवस्था-दोष का प्रसंग आ जायेगा। यदि द्वितीय ज्ञान को स्वतः प्रमाण मान लिया जाये तो प्रथम ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानने में क्या आपत्ति हो सकती है ?—

"कस्य चित्तु यदीष्येत स्वत एव प्रमाणता।
प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः केन हेतुना॥"[९]

इस आपत्ति का उत्तर वाचस्पतिमिश्र ने यह कहकर दिया है कि ऐसे अनुमान जहां उनके अप्रामाणिक होने का सन्देह करने का अवकाश नहीं होता

---

८. प्रमाणनयतत्त्वालोक १-२१ पर रत्नाकरावतारिका।

९. मीमांसाश्लोक वार्त्तिक, बनारस, १८९८-९९, सू० २ श्लो० ७६,

स्वतः प्रमाण होते हैं।[10] इसका समर्थन उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक में किया है।[11] उल्लेखनीय है कि हेमचन्द्राचार्य ने भी इस सम्बन्ध में वाचस्पतिमिश्र का लगभग शब्दशः अनुकरण किया है[12] किन्तु स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसक द्वारा परतः प्रामाण्यवाद पर लगाये गये अनवस्था दोष के निराकरण के लिए जैन नैयायिकों ने अनुमान के स्वतः प्रमाण होने का तर्क प्रयुक्त नहीं किया है। जैन नैयायिक अनवस्था दोष के निराकरण के लिए यह तर्क प्रस्तुत करते रहे कि अभ्यासदशा में ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है और इस प्रकार अनभ्यास दशा के ज्ञान का प्रामाण्य अभ्यासदशा के ज्ञान द्वारा होगा जिसके स्वतः प्रमाण होने के कारण उसका प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए ज्ञानान्तर की अपेक्षा न होगी और अनवस्था दोष भी न आयेगा।[13] इस प्रकार वाचस्पति मिश्र के द्वारा प्रतिपादित अनुमान विशेषों के स्वतः प्रामाण्य को हेमचन्द्राचार्य जैसे जैन नैयायिकों द्वारा स्वीकार किये जाने पर भी नैयायिक और जैन नैयायिकों में यह भेद बना रहता है कि नैयायिक इस तथ्य का उपयोग अनवस्था दोष के निराकरण के लिए करते हैं जबकि जैन नैयायिक उसी दोष के निराकरण के लिए इस तथ्य का उपयोग न करके अभ्यासदशा में ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य का उपयोग करते हैं।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि नैयायिक अभ्यासदशा में भी ज्ञान को परतः प्रामाण्य ही मानता है और अभ्यासदशा में ज्ञान के प्रामाण्य का यह निश्चय अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान द्वारा माना गया है जबकि अनभ्यासदशा में यह निश्चय केवलव्यतिरेकी अभ्यास द्वारा होता है। अभ्यासदशा में अन्वय व्यतिरेकी अनुमान में हेतु समर्थप्रवृत्तिजनकज्ञानजातीयत्व होता है जबकि अनभ्यासदशा में हेतु समर्थप्रवृत्तिजनकत्व होता है अर्थात् अभ्यास दशा में प्रवृत्तिसाफल्य से पूर्व भी तज्जातीय लिंग से प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है।

---

१०. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, बनारस, १९८६ पृ० १२ "अनुमानेऽस्य तु प्रवृत्तिसामर्थ्यलिङ्गजन्मनोऽन्यस्य वा निरस्तसमस्तव्यभिचारशङ्कस्य स्वत एव प्रामाण्यमनुमेयाव्यभिचारिलिङ्गसमुत्थत्वात्।

११. आत्मतत्त्वविवेक, कलकत्ता १९३९ पृ० ६९८।

१२. प्रमाणमीमांसा, पृ० ६ पं० ६-७ "अनुमाने तु सर्वस्मिन्नपि सर्वथा निरस्तसमस्तव्यभिचाराशङ्के स्वत एव प्रामाण्यम्, अव्यभिचारिलिङ्गसमुत्थत्वात्।'

१३. प्रमेयरत्नमाला, वाराणसी, १९६४ पृ० ३०।
'न चानभ्यासदशायां परतःप्रामाण्येऽप्यनवस्था समाना,
ज्ञानान्तरस्याभ्यस्तविषयस्य स्वतःप्रामाण्यभूतस्याङ्गीकरणात्।

यहाँ यह तथ्य बतला देना भी रोचक होगा कि अपरार्क ने भी अनवस्था दोष से बचने के लिए ऐसे ज्ञान को स्वतः प्रमाण मान लिया है जिस ज्ञान के प्रामाण्य में सन्देह का अवकाश न हो।[१४] यही नहीं अपरार्क ने वाचस्पति मिश्र के इस मत को भी स्वीकार नहीं किया है कि कुछ अनुमान स्वतः प्रमाण होते हैं।[१५] इस प्रकार अपरार्क जैन न्याय के बहुत निकट है और नैयायिकों से उसका विरोध जैन दार्शनिकों की अपेक्षा भी प्रखर है।

इस साधारण मतभेद के अतिरिक्त जैन दार्शनिकों और नैयायिकों में प्रामाण्यवाद के सन्दर्भ में कोई मतभेद मुझे नहीं मिला। यहाँ तक कि जिस प्रकार वाचस्पति ने अदृष्टार्थ स्वर्गादि सम्बन्धी श्रुति का प्रामाण्य दृष्टार्थ आयुर्वेदादि के सफल प्रवृत्तिजनकत्व द्वारा आप्तोक्तत्व के अवधारण के माध्यम से न्यायसूत्र[१६] का अनुकरण करते हुए किया है,[१७] उसी प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने दृष्टार्थ ग्रहोपराग आदि के संवादकत्व से आगमों का प्रामाण्य अप्रोक्तत्व के माध्यम द्वारा कर अदृष्टार्थ में भी उसका प्रामाण्य बतलाया है।[१८]

पूर्वपक्ष में मीमांसकों का उल्लेख करते समय जैन दार्शनिकों ने प्रभाकर कुमारिलभट्ट और मुरारिमिश्र के तीन प्रस्थानों में जहाँ तक हमें मालूम है कुमारिलभट्ट का ही उल्लेख किया है। पूर्वपक्ष का अधिक प्रामाणिक उल्लेख प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा किया गया है क्योंकि उन्होंने पूर्वपक्ष का उल्लेख करते समय प्रायः मीमांसाश्लोकवार्त्तिक के प्रासङ्गिक मूल श्लोक भी उद्धृत किए हैं।[१९] उत्पत्तिस्वतस्त्व की दृष्टि से मीमांसकों द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि कारण जब कार्य को जन्म देता है तो वह पदार्थ की प्रतिनियत शक्तियों के साथ ही पदार्थ को जन्म देता है। कोई अन्य उस पदार्थ में वह शक्ति

---

१४. न्यायमुक्तावली, मद्रास, १९६१ पृ० ८९।

१५. तदेवमनुमानादेरपि न स्वतः प्रामाण्यावधारणं प्रामाणिकम्। न्यायमुक्तावली प० ८७।

१६. न्यायसूत्र (बनारस), २-१-६९।

१७. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका पृ० १२।

१८. प्रमाणमीमांसा पृ० ६ पं० १४-१५ अदृष्टार्थे हेतुदृष्टार्थग्रहोपराग-नष्ट मुष्ट्यादिप्रतिपादकानां संवादेन प्रामाण्यं संवादनमन्तरेणाप्याप्रोक्तत्वेनैव प्रामाण्यनिश्चय इति सर्वमुपपन्नम्।

१९. 'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्त्तुमन्येन पार्यते।
(मीमांसाश्लोकवार्त्तिक २-४७)
न्यायकुमुदचन्द्र भाग-१, बम्बई १९३८ पृ० १९५ पर उद्धृत।

उत्पन्न नहीं कर सकता जो कि उसमें स्वतः न हो।[२०] दूसरा तर्क यह है कि कोई पदार्थ उत्पत्ति के समय कारण की अपेक्षा रखता है किन्तु उत्पन्न होने के अनन्तर अपने कार्यों में स्वतः ही प्रवृत्त होता है पर की अपेक्षा नहीं रखता।[२१] यह कार्य में स्वतस्त्व है। ज्ञान अर्थ का बोधक है अतः स्वतः प्रमाण है जब तक कि कोई बाधक ज्ञान या कारणदोष ज्ञान उसकी प्रामाणिकता को बाधित न करे। ज्ञान के अर्थपरिच्छेद रूप अपने व्यापार के लिए अपनी उत्पादक सामग्री के अतिरिक्त किसी गुणादि की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि ऐसे गुणादि न प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीति में आते हैं न अनुमान द्वारा।[२२]

---

२०. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग १, पृ० १९६ पर तीन श्लोक उद्धृत किए हैं जिन का सन्दर्भ सम्पादक पं० महेन्द्रकुमार न्यायशास्त्री, मीमांसाश्लोकवार्त्तिक से खोज पाए हैं किन्तु तीन श्लोक ऐसे भी हैं जिनका सन्दर्भ इन्हें प्राप्त नहीं हुआ—वे श्लोक ये हैं—

"मृद्दण्डचक्र-सूत्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते
उदकाहरणे तस्य परापेक्षा न विद्यते'

(न्यायमञ्जरी पृ० १६२, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० ३९ उत्तरार्ध सन्मति टीका पृ० ४ पर उद्धृत तथा तत्त्वसंग्रह (पृ० ७५७) पर कुमारिल भट्ट कृत बतायी गयी कारिका जिसका भावांश मीमांसाश्लोकवार्त्तिक के सू० २ श्लो० ४८वीं टीका में है)

"यथैव प्रथमं ज्ञानं तत्संवादमपेक्षते।
संवादस्याथ पूर्वेण संवादित्वात् प्रमाणता।
एवमन्योन्यभावेन प्रामाण्यं न प्रकल्प्यते॥"

ये दो तथा मीमांसाश्लोकवार्त्तिक सू० २ श्लो० ७६ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० ४० पूर्वार्ध, सन्मति टी० पृ० ६, स्याद्वादरत्नाकर पृ० २५१ पर उद्धृत हैं, तथा प्रथमकारिका तत्त्वसंग्रह (पृ० ७५७) पर उद्धृत है कुमारिल कृत बतायी गयी है)

२१. 'आत्मलाभे हि भावानां कारणापेक्षिता भवेत्।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु॥' (मीमांसाश्लोकवार्त्तिक सू० २-४८) न्यायकुमुदचन्द्र पृ० १९५ पर उद्धृत।

२२. न्यायकुमुदचन्द्र पृ० १९५ पं० ९-११।
प्रमेयरत्नमाला, पृ० ३२ तथा रत्नाकरावतारिका पृ० ११०-१११।

जैन नैयायिकों का उत्पत्तिस्वतस्त्व के सम्बन्ध में यह कहना है कि ज्ञान में उत्पत्ति के समय अर्थमात्र परिच्छेदिका शक्ति होती है, यथार्थपरिच्छेदिका शक्ति नहीं। इसलिए ज्ञान की उत्पत्ति जिस चक्षु आदि सामग्री से होती है यथार्थपरिच्छेदक प्रामाण्य की उत्पत्ति उससे न होकर गुणयुक्त सामग्री से ही होनी सम्भव है। यदि ज्ञान में ही यथार्थपरिच्छेदिका शक्ति मान ली जाए तो कोई भी ज्ञान अप्रामाण्य होगा ही नहीं। मीमांसक का यह कहना कि ज्ञान मात्र की उत्पादिका सामग्री के कोई गुण प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा प्रतीति में नहीं आते, सकल जन प्रतीति के विरुद्ध है। चक्षु आदि की निर्मलता आदि विषय की निकटता और निश्चलता आदि मन के ध्यान आदि आत्मा के स्वस्थता आदि और प्रकाश के स्फुटता आदि, रूप गुण सकल जन प्रसिद्ध हैं।[२४] यह कहना कि निर्मलता चक्षु का स्वरूप है, गुण नहीं, युक्तियुक्त नहीं है। निर्मलता का चक्षु से तादात्म्य होने पर भी निर्मलता को चक्षु का गुण ही मानना होगा जिस प्रकार रूप का चक्षु से तादात्म्य होने पर भी रूप चक्षु का गुण है। निर्मलता को चक्षु मात्र नहीं कह सकते क्योंकि चक्षु के बने रहने पर भी पीलिया आदि रोग हो जाने पर उसकी निर्मलता नहीं रहती।[२५]

यदि गुणों का सद्भाव है ही नहीं तो 'गुणेभ्यो दोषानामभावः,[२६] इत्यादि में स्वयं मीमांसक ही गुणों का सद्भाव कैसे स्वीकार करता है। यदि दोषों के अभाव मात्र को गुण कहा जाए तो गुणों के अभाव मात्र को भी दोष कहा जा सकता है। व्यवहार में "गुणवत् चक्षु" इत्यादि का प्रयोग होता है। अञ्जनादि के प्रयोग से चक्षु में गुणातिशय का आधान होता है तथा संसार में 'अमुक की इन्द्रियाँ पटु हैं अमुक की पटुतर हैं" इत्यादि व्यवहार किया जाता है। ये सब तथ्य गुणों के सद्भाव के ही परिचायक हैं।[२७]

---

६३. न्यायकुमुदचन्द्र पृ० १६७ पं० १३-१६

२४. उपरिवत् पृ० १६७ पं० १६-२३

२५. उपरिवत् पृ० १६७ पं० २४; पृ० १६८-पं० ६

२६. मीमांसाश्लोकवार्त्तिक २-६५, न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३६८ पर उद्धृत।
प्रमेयरत्नमाला, पृ० ३२
न्यायकुमुदचन्द्र पृ० १६८ पं० १०-१८ रत्नाकरावतारिका, पृ० ११५।

२७. तुलनीय न्यायकुसुमांजलि, वाराणसी, १६७३, पृ० १०५ प्रमेयरत्नमाला पृ० ३५ जहाँ दोषों के अभाव को केवल अभावरूप न मानकर भावरूप सिद्ध किया गया है। युक्ति दी गई है कि कुछ दोष स्वयं ही अभाव रूप होते हैं यथा अज्ञान, उनका अभाव अभावरूप न होकर भाव रूप ही होगा क्योंकि अभाव का अभाव भावरूप ही होता है।

यह कहना ठीक न होगा कि गुणों का सद्भाव होने पर भी उनका कार्य केवल इतना ही है कि वे दोष को दूर कर देते हैं। इसलिए उन्हें प्रामाण्य में हेतु न मानकर प्रामाण्य को स्वतः ही मानना चाहिए क्योंकि ऐसा मानने पर यह भी कहा जा सकता है कि दोष केवल गुणों को दूर करते हैं और अप्रामाण्य में हेतु नहीं हैं अतः अप्रामाण्य भी स्वतः ही है।[२८]

इसी प्रकार यह आपत्ति भी निराधार है कि उत्पत्ति के अनन्तर ज्ञान नष्ट हो जाता है अतः प्रामाण्य किसका होगा? यदि इस आपत्ति को ठीक मान लें तो उत्पत्ति के अनन्तर नष्ट हो जाने वाले ज्ञान में परतः अप्रामाण्य भी उत्पन्न न हो सकेगा।[२९]

जहाँ तक कार्य के स्वतस्त्व का प्रश्न है यदि उत्पन्न होने के अनन्तर ज्ञान अपने कार्यों में बिना किसी अपेक्षा के स्वतः ही प्रवृत्त होता है तो अप्रामाण्य की स्थिति में भी उसे किसी पर अपेक्षा किए बिना स्वतः ही प्रवृत्त होना चाहिए अर्थात् यदि यथार्थ प्रकाशन शक्ति उसमें स्वतः है तो अयथार्थ प्रकाशन[३०] शक्ति भी उसमें स्वतः ही माननी होगी।

जैन आचार्यों का कहना है कि स्वतः प्रामाण्य में स्वतः शब्द का क्या अर्थ है? यदि स्वतः का अर्थ निर्हेतुकता है तब तो सदा ही प्रामाण्य का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि स्वतः का अर्थ यह है कि प्रामाण्य स्वयं प्रामाण्य से उत्पन्न होता है तो एक ही वस्तु में उत्पाद्य और उत्पादकत्व दोनों धर्म नहीं रह सकते। यदि स्वतः का अर्थ यह है कि ज्ञान को उत्पन्न करने वाली सामग्री से प्रामाण्य उत्पन्न होता है तो क्या ज्ञान मात्र को उत्पन्न करने वाली सामग्री से प्रामाण्य उत्पन्न होगा? तब तो अप्रामाण्य की स्थिति में भी प्रामाण्य उत्पन्न होना चाहिए और यदि विशिष्ट ज्ञान को उत्पन्न करने वाली सामग्री से प्रामाण्य उत्पन्न होता है तो यह विशिष्ट ज्ञान यथार्थ ही होगा। यह कहना कि यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करने वाली सामग्री से ज्ञान का याथार्थ्य उत्पन्न होता है, सिद्ध-साधन होगा क्योंकि अपनी सामग्री से तो प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता ही है।[३१]

अतः ज्ञान का प्रामाण्य अनभ्यासदशा में परतः अर्थात् संवादक ज्ञान से होता है। संवादकज्ञान में कारण गुण-ज्ञान एवं बाधक भावज्ञान दोनों समा-

---

२८. न्यायकुमुदचन्द्र पृ० १९८, पं० १८-२१

२९. उपरिवत् पृ० १९८ पं० २१-२५

३०. उपरिवत् पृ० १९९ पं० ८-१२

३१. न्यायकुमुदचन्द्र पृ० १९९ पं० १९ पृ० २०० पं० ४ अपि च रत्नाकरावतारिका, पृ० ११९

विष्ट हैं। गुण की सत्ता तो ऊपर सिद्ध हो गई है। बाधकाभावज्ञान में तात्कालिकबाधकाभाव ज्ञान ही नहीं प्रत्युत भविष्यत्कालिकबाधकाभाव ज्ञान भी सम्मिलित है। यदि यह माना जाए कि भाविवस्तु का ज्ञान ही नहीं हो सकता तो कृत्तिकोदय से शकटोदय का अनुमान न हो सकेगा।[३२]

आचार्य भावसेन का कहना है कि गुण दोषों को दूर करते हैं किन्तु साथ ही साथ प्रामाण्य भी उत्पन्न करते हैं जैसे प्रकाश अन्धकार को दूर करता है किन्तु रूप ज्ञान में भी सहायक होता है। प्रमाणशः देखें तो प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रामाण्य संवादकत्व से, अनुमान मे पक्षधर्मतादिगुणों से तथा आगम ज्ञान में यथार्थकर्तृत्व से उत्पन्न होता है न कि स्वतः।[३३] यहाँ यह द्रष्टव्य है कि आचार्य हेमचन्द्र के ऊपर उद्धृत मत के विरुद्ध अनुमान को भी प्रामाण्य परतः ही माना गया है। न्यायवार्त्तिक जैसे ग्रन्थों में जिस प्रवृत्तिसामर्थ्य को प्रामाण्य का हेतु कहा है[३४] उसे जैन दार्शनिकों ने अभ्यासदशा की कोटि में समाविष्ट कर स्वतः प्रमाण मान लिया है।[३५]

उपसंहार

जैन न्याय के ग्रन्थों में प्रामाण्यवाद की इस चर्चा के अनुशीलन से कुछ विचारणीय प्रश्न उभर आते हैं। उनकी ओर संक्षेप में इंगित कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

(१) रत्नप्रभाचार्य ने ज्ञान की जैनदर्शन सम्मत स्वपरप्रकाशता के सन्दर्भ में यह स्पष्टीकरण किया है कि ज्ञान स्वयं ज्ञान को प्रकाशित करता है। इस रूप में ज्ञान रूपी प्रमेय का ज्ञान तो सदा प्रमाण ही होता है, प्रामाण्य-प्रमाण का प्रश्न बाह्यपदार्थ रूपी प्रमेय के सन्दर्भ में उपस्थित होता है। यहाँ यह विचारणीय है कि चाहे ज्ञान का ग्रहण स्वयं उसी ज्ञान से हो जैसा कि प्रभाकर मीमांसक और जैन मानते हैं चाहे अनुव्यवसाय से हो जैसा कि मुरारिमिश्र और न्याय का मत है, चाहे अनुमान से हो जैसा कि कुमारिल भट्ट का मत है किन्तु क्या ज्ञान रूपी प्रमेय के सन्दर्भ में भी प्रामाण्य पर प्रश्न-वाचक चिन्ह लग सकता है?

(२) क्या कारण है कि शान्तरक्षित के प्रामाण्यवाद सम्बन्धी अनियमपक्ष को स्वयं बौद्धों की परम्परा न निभा सकी जबकि जैन परम्परा उसे प्रारम्भ

---

३२. रत्नाकरावतारिका, पृ० ११७

३३. विश्वतत्त्वप्रकाश, शोलापुर, वि० सं० २०२० पृ० १०२-१०३

३४. न्यायवार्त्तिक, बनारस, १९१६, पृ० ८

३५. रत्नाकरावतारिका पृ० ११९ अर्थक्रियाज्ञानस्य तु स्वत एव प्रामाण्य-निश्चयः, अभ्यासदशापन्नत्वेन दृढतरस्यैवास्योत्पादात्।

से अन्त तक निभाती रही। मेरा अनुमान है कि शायद अनियम पक्ष जैनों में स्याद्वाद की समग्रदृष्टि में जितनी सरलता से समाविष्ट हो सकता था उतना शायद बौद्धों की समग्र दृष्टि में नहीं। अतः जैनपरम्परा में इस दृष्टि का समर्थन निरन्तर होता रहा जबकि शान्तरक्षित बौद्ध परम्परा में अकेले पड़ गए।

(३) हेमचन्द्राचार्य जैसे विद्वानों द्वारा अनुमान का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार किए जाने पर भी जैनों ने वाचस्पति मिश्र के समान इस तथ्य का प्रयोग मीमांसकों द्वारा परतः प्रामाण्य पर लगाए गए अनवस्था दोष के निराकरण के लिए नहीं किया है। इसका भी एक सूक्ष्म दार्शनिक कारण प्रतीत होता है। वस्तुतः जैन दृष्टि से अन्य दार्शनिकों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान माने जाने वाला ज्ञान भी परोक्ष ही माना गया है क्योंकि वह ज्ञान आत्मा को सीधा न होकर इन्द्रियों के माध्यम से होता है। अतः परमार्थतः वह परोक्ष ही माना गया है उसे प्रत्यक्ष केवल सांव्यवहारिक दृष्टि से कहा गया है। अतः अनुमान की स्वतः प्रमाणता दबे स्वर में हेमचन्द्राचार्य जैसे कुछ जैन दार्शनिकों द्वारा स्वीकार कर लिए जाने पर भी इस पर अधिक बल देने का अर्थ समस्त ज्ञान मात्र को स्वतः प्रमाण स्वीकार कर लेना होता जो कि जैनों को इष्ट न था। इसीलिए सम्भवतः भावसेन जैसे जैन आचार्यों ने तो अनुमान को भी स्वतः प्रमाण स्वीकार नहीं किया। सिद्धान्त पक्ष के रूप में जैन अभ्यास दशा के ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानकर अनवस्था दोष का निराकरण करते रहे।

(४) जैनों का प्रामाण्यवाद के सन्दर्भ में एक मूल्यवान योगदान है—आगमों का मानवीकरण। आगम नित्य या दैवी वाणी न होकर वीतराग सर्वज्ञ मनुष्य की वाणी होने के कारण प्रमाण हैं। यही कारण है कि नित्यता और अपौरुषेयता के आधार पर आगम प्रमाण सिद्ध करने वाले स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसकों का सर्वाधिक बल सर्वज्ञता के खण्डन पर रहा। निष्पक्ष रहकर यही कहना होगा कि जिस प्रकार मीमांसकों की वेदों की नित्यता या अपौरुषेयता तर्क का विषय न होकर श्रद्धा का विषय है उसी प्रकार जैनों की सम्मत सर्वज्ञता भी तर्क का विषय न होकर श्रद्धा का ही विषय है।

(५) उपर्युक्त आगमप्रमाण के प्रसंग को छोड़कर यदि सामान्य जीवन में दैनन्दिन ज्ञान की बात लें तो सम्भवतः जैनों का यह दृष्टिकोण कि ज्ञान अभ्यासदशा में स्वतः प्रमाण तथा अनभ्यासदशा में परतः प्रमाण है एक आम आदमी की धारणा के अधिक निकट है।

21

रामचरितमानस पर संस्कृतसाहित्य का प्रभाव

नमः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः

रामचरितमानस तथा वाल्मीकि रामायण का तुलनात्मक अध्ययन सर्व प्रथम एक इटली के विद्वान् डा० एल० पी० टैसीटरी ने इतालवी भाषा में 'इल रामचरितमानस ए इल रामायण' नाम से प्रस्तुत किया जिसका अंग्रेजी अनुवाद दो भागों में प्रकाशित हुआ है।[1] भारतीय विद्वानों में संभवतः रामचरितमानस की संस्कृत ग्रन्थों से तुलना सर्वप्रथम श्री महाराष्ट्रीय ने अपने ग्रन्थ श्री रामायण समालोचना में की है।[2] इसके अनन्तर इस प्रकार के अध्ययनों की एक बाढ़ सी आ गयी।[3] इन अध्ययनों में से लगभग १५ तो विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा शोधोपाधियों के लिए भी स्वीकृत हो चुके हैं।[4]

प्रस्तुत निबन्ध में पूर्ववर्ती शोधकर्ताओं की निष्पत्तियों की पुनरावृत्ति को यथा संभव बचाते हुए कुछ नवीन निष्पत्तियों को विद्वानों के सम्मुख रखने का विनम्र प्रयास किया गया है। रामचरितमानस पर संस्कृति साहित्य का प्रभाव इतना व्यापक है कि उसकी सम्पूर्णतः चर्चा करना इस शोध निबन्ध में तो असम्भव है ही; उसकी चर्चा पूर्ववर्ती शोध-प्रबन्धों में भी इतनी अधिक हो चुकी है कि इस प्रकार का कोई भी प्रयत्न अधिकतर पिष्टपेषण ही होता।

---

१. इण्डियन एन्टिक्वैरी, बम्बई, १९१२, १९१३। यह हिन्दी का प्रथम शोध प्रबन्ध है।

२. पुणे १९२७

३. प्रारम्भिक अध्ययनों के विवरण के लिए देखिए—राम प्रकाश अग्रवाल, वाल्मीकि और तुलसी का साहित्यिक मूल्यांकन, मेरठ १९६६-पृ० ८-१

४. द्रष्टव्य डा० उदय भानु सिंह : हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध, दिल्ली, १९५७ बिब्लियोग्राफी आफ डाक्टरल डिस्सर्टेशन १८५७-१९७० (हिन्दी नई दिल्ली १९७४, पृ० २९-३३।)

प्रस्तुत निबन्ध में जो स्थल हमने रामचरितमानस के चुने हैं, वे ऐसे नहीं हैं कि उनकी चर्चा हमारे पूर्ववर्ती शोधकर्ताओं ने न की हो। तथापि हम इस निबन्ध में उन्हीं स्थलों की चर्चा ऐसे दृष्टिकोण से करेंगे, जिस दृष्टिकोण से उन स्थलों की चर्चा हमारी जानकारी में अब तक नहीं हुई है। अतः प्रस्तुत निबन्ध में सामग्री चाहे पुरानी है, किन्तु उस सामग्री का नवीन व्याख्यान तथा मूल्यांकन करने का प्रयत्न अवश्य है।

हमारी जिज्ञासाएँ

हमारा नवीन व्याख्यान तथा मूल्यांकन कुछ जिज्ञासाओं को लेकर चला है—संस्कृत साहित्य के किसी स्थल का अनुकरण रामचरितमानस में करते समय क्या तुलसीदास केवल अनुवाद भर कर देते हैं या मूल संस्कृत स्थल में कुछ परिवर्तन भी करते हैं? यदि संस्कृत के अंश को आधार बना कर लिखते समय उसमें कुछ परिवर्तन तुलसीदास ने किया है तो क्यों? क्या इससे मूल संस्कृत का मूल सन्दर्भ और सौन्दर्य बढ़ा है या घटा है। तुलसीदास की पूर्ववर्ती साहित्य के प्रति क्या दृष्टि थी श्रद्धा की या आलोचना की? संस्कृत साहित्य से प्रभावित होते समय क्या तुलसीदास ने कहीं साहित्यिक चोरी भी करनी चाही है या नहीं क्या वे अपने पाठकों को पराई वस्तु को अपनी बतला कर धोखा तो नहीं देना चाहते हैं?

तुलसीदास की ईमानदारी

यदि तुलसी के राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं तो पूर्ववर्ती कवियों के आभार को न छिपाने की आदर्श मर्यादा भी तुलसी ने ही स्थापित की है। 'नाना-पुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' कह कर तुलसी अपनी ईमानदारी से मुक्त नहीं हो गये। जहाँ-जहाँ उन्हें अवसर प्राप्त हुआ उन्होंने स्पष्ट रूप से परवर्ती कवि के आभार को प्रस्तुत किया है। प्रसन्नराघव के "चन्द्रहास हर मे परितापं रामचन्द्रविरहानलजातम्।"[५] को तुलसीदास लिखते हैं—

चन्द्रहास हरु मम परितापम्। रघुपति विरह अनल संजातम्:[६]

---

५ श्रीरामचरितमानस, गोरखपुर, १९३८ (कल्याण वर्ष १३, सं० १) बालकाण्ड आदि श्लोक संख्या-७

६. प्रसन्नराघव (जयदेव रचित) मुम्बई शक १८४३, ६.३३

७. श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड ९.३ (नौवें दोहे के अनन्तर तीसरी चौपाई) पृ०—६२९
इस चौपाई में गूढोक्ति तथा सारूप्य निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार रूप है।

यहां कहीं कोई परिवर्तन नहीं है। यहाँ तक कि सानुस्वार पद तक ज्यों का त्यों ले लिया। कोई अनायास पहचान जाएगा कि अवधी में जहाँ 'परितापम्' 'संजातम्' के प्रयोग हैं वहाँ अवश्य संस्कृत का प्रभाव है। हाँ, यह अवश्य है कि इतनी ईमानदारी बरतने पर भी तुलसीदास अपनी मोहर चौपायी पर लगाना न भूले। यह वाक्य सीता ने कहे हैं। मूल में प्रसन्नराघव ने 'रामचन्द्रविरहानलजातम्' कहा था, तुलसी ने उसे 'रघुपतिविरह अनलसंजातम् कर दिया। सीता अपने पति का नाम 'रामचन्द्र' कैसे लेती, अतः 'रामचन्द्र' के स्थान पर 'रघुपति' कहा। पति का वंश-नाम वर्मा जी, शर्मा जी इत्यादि आज भी भारतीय महिलाएँ कह देती हैं। किन्तु मूल नाम नहीं। इस मर्यादा की रक्षा करना तुलसीदास सानुस्वार संस्कृत श्लोक को ज्यों का त्यों लेते समय भी नहीं भूले।

हमारा अभिप्राय यह है कि तुलसीदास ने राजशेखर के इस परामर्श का कोई लाभ नहीं उठाया कि—

"कवियों और व्यापारियों में चोरी किये बिना कोई नहीं रहता। जो छिपाना जानता है वह बिना निन्दित हुए प्रसन्न रहता है।"[८]

तुलसीदास छिपाना जानते नहीं थे—यह कहना कठिन है; वे छिपाना चाहते नहीं थे यह कहना सत्य होगा। इसलिए रामचरितमानस पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव खोजना नहीं पड़ता। वह प्रत्येक पृष्ठ पर अनायास ही बिखरा हुआ मिल जाता है।

तुलसी का स्पर्श मिला और पंक्ति अमर हो गई। वह अमर पंक्ति है—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाहि बरु बचन न जाई॥[९]

रामचरितमानस की अगर कोई पंक्ति किसी को कंठस्थ न हो तो भी उक्ति पंक्त अवश्य कंठस्थ होगी। अब शायद अधिकतर लोगों को यह पता न हो कि यह पंक्ति मौलिक नहीं है प्रत्युत उदार राघव की निम्न पंक्ति का भावानुवाद है—

'इक्ष्वाकु राजा प्राणों के जाते रहने पर भी असत्य नहीं बोलते'
'इक्ष्वाकवो नैव वदन्त्यसत्यं प्राणेषु नश्यत्स्वपि पार्थिवेन्द्राः[१०]

---

८. नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः। स नन्दति विना वाच्याद् यो जानाति निगूहितुम्॥ काव्यमीमांसा बड़ौदा १९३४-पृ० ६४

९. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, २·७२

१०. उदारराघव, ४ ४९

मूल संस्कृत पंक्ति अत्यन्त साधारण है, किन्तु तुलसी की काव्यकला का स्पर्श पाकर वह अमर बन गयी है। मूल में 'प्राणों का जाना' और 'असत्य नहीं बोलने' में टक्कर थी। तुलसीदास ने यह टक्कर 'प्राण जाहि' और वचन न जाई' में करवा दी। दोनों में क्रियापद जाना, एक हो गया—प्राण जाये किन्तु वचन न जाये। मानो 'जाने' की क्रिया की डंडी पर दो पलड़े लटक गये हों—एक पर प्राण रखे हैं और एक पर वचन। दोनों तुला में तुल गये और निष्कर्ष निकला--प्राण जाहि वरु वचन न जाई। राजा दशरथ का जो चुनाव था—प्राण जाने देने में और वचन न जाने देने में, वह तुलसीदास की अनूदित पंक्ति में जितना मुखर हो गया वह मूल संस्कृत पंक्ति में कहाँ—

"इक्ष्वाकवो नैव वदन्त्यसत्यं प्राणेषु नश्यत्स्वपि पार्थिवेन्द्राः।"

मूल रचना कवि की थी, मानस की पंक्ति महाकवि की रचना बन गयी और वह महाकवि जनकवि भी था, इसलिए इतनी प्रभावशाली बात को इतने सहज ढंग से कह गया कि आज पूरे हिन्दी साहित्य—बल्कि भारतीय साहित्य में सबसे अधिक लोकप्रिय पंक्ति की खोज यदि की जाये तो शायद अधिकतम मत इसी पंक्ति को मिले। लेकिन यह पंक्ति जिस मूल संस्कृत पंक्ति से ली गयी है वह पंक्ति संस्कृतज्ञों में भी शायद ही किसी को ध्यान में हो। वस्तुतः प्राणों के जाते रहने पर भी "असत्य बोलने" का प्रसंग दशरथ के सामने था ही नहीं। दशरथ के सामने, 'वचन न जाने' देने का प्रसंग था। दशरथ को कैकेयी से असत्य या सत्य बोलने में चुनाव नहीं करना था प्रत्युत अपना वचन निभाऊँ या तोड़ दूँ यह प्रश्न उनके सामने था। "प्राण जाहि बरु वचन न जाई" में जो आवृत्ति दीपक अलंकार है वह भाव गांभीर्य की अपेक्षा होने पर तो आनुषंगिक ही है लेकिन उसका सौन्दर्याधायकत्व उपेक्षणीय नहीं है। इस भावगाम्भीर्य तथा शब्द-सौन्दर्य के समन्वय ने "प्राण जाहि बरु वचन न जाई" को हिन्दी भाषा में एक मुहावरा ही बना दिया है।

शब्दागमः शब्दविपर्ययश्च द्वौ चापरौ शब्दविकार-नाशौ।
शब्दस्य चार्थातिशयेन योगः

दुर्गाचार्य ने निरुक्त[११] के जो पाँच प्रकार बताये हैं, उन्हीं में 'वर्ण' के स्थान पर 'शब्द' रखकर हमने रामचरितमानस में संस्कृत साहित्य के प्रभाव

राजशेखर की काव्य-मीमांसा (पृ०-६५) के अनुसार यह प्रतिबिम्बकल्प अर्थ-ग्रहण के अन्तर्गत 'व्यस्तक' भेद का उदाहरण होगा, क्योंकि यहाँ पूर्व अर्थ को पर तथा पर को पूर्व कर दिया गया है। किन्तु इतने शास्त्रीय विवेचन मात्र से तुलसी की प्रतिभा का चमत्कार विस्फुट नहीं होता।

११. निरुक्त, मुम्बई सं० १९८२, १. १. ५ पर दुर्गाचार्य की टीका (पृ० ६)

को देखने का प्रयत्न करते हुए यह पाया कि शब्द-प्रयोग के प्रसंग में तुलसीदास ने मूल के १-शब्द में वृद्धि, २-शब्द में विपर्यय, ३-शब्द में परिवर्तन ४-शब्द के निराकरण तथा ५-शब्द के अत्यातिशय में प्रयोग द्वारा प्रभावित स्थलों में विशेष चमत्कार पैदाकर दिया है, हमसे पूर्ववर्ती शोधों में राजशेखर द्वारा काव्य-मीमांसा में दिये गये शब्द ग्रहण के प्रकारों के संदर्भ में तुलसीदास पर संस्कृत साहित्य के प्रभाव की सविस्तार चर्चा हो चुकी है।[१२] हम शब्द ग्रहण की प्रक्रिया का उपर्युक्त पाँच भागों में वर्गीकरण करते हुए चर्चा करेंगे।

शब्दवृद्धि

सीता स्वयंवर के अवसर पर बालकाण्ड का यह दोहा देखें—

"बोले बन्दी बचन बर सुनहु सकल महीपाल
पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल॥[१३]

आनन्दरामायण के निम्न श्लोक को भी देखें—

मागधास्तु प्रणं सर्वं जनकस्य च भूपतीन्।
श्रावयामासुः ते सर्वे बाहुमुत्क्षिप्य संसदि।[१४]

"उन सब मागधों ने जनक के समस्त प्रण को सभा में भुजा उठाकर राजाओं को सुनाया"

मानस के दोहे का 'आनन्दरामायण' के श्लोक के प्रति आनृण्य स्पष्ट है परन्तु तुलसीदास ने भुजाओं का विशेषण 'विसाल' अपनी ओर से जोड़ा है। जो कि मूल श्लोक में नहीं है। इस 'विसाल' शब्द के जोड़ देने से मूल के इतिवृत्तात्मक श्लोक में चित्रात्मकता के साथ-साथ काव्यात्मकता भी आ गयी है।

---

१२. द्रष्टव्य १ सीताराम कपूर, मानस के साहित्यिक स्रोत, आगरा, १९५५
२. शिवकुमार शुक्ल, रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन, कानपुर, १९६४, १० ३३१-३६३.

१३. श्री रामचरित मानस, बालकाण्ड, २४९ (१० २४२)

१४. आनन्द रामायण, सारकाण्ड, सर्ग-२, ६२ ('रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन, १० ३६० पर उद्धृत) यह राजशेखर के अनुसार 'पर-पुर-प्रवेश-सदृश' के अन्तर्गत 'सत्कार' का उदाहरण होगा, क्योंकि यहाँ वर्णित वस्तु 'बाहु' को 'विसाल' कहकर उसका उत्कर्ष दिखाया गया है।

मानस पीयूष[15] के अनुसार यही 'विसाल' शब्द देहली दीपक न्याय से भुजाओं के साथ-साथ 'पन' की विशालता को भी बतला रहा है, किन्तु हमारे विचार में ऐसा कहना पंक्ति के प्रारम्भ में रखे पद 'पन' को पंक्ति के अन्त में रखे पद 'विसाल' से जोड़ने के कारण दोहे को दूरान्वय दोष से दूषित करना तो होगा ही, तुलसीदास की काव्य-प्रतिभा के साथ पूरा न्याय भी न होगा। वस्तुतः यहाँ समाधिगुण हैं[16] जिसे पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में 'ट्रान्सफरेन्स आफ एपिथेट' कहते हैं। प्रण की विशालता का यहाँ भुजाओं पर आधान कर दिया गया है। दर्शकों की भुजाओं की विशालता से प्रण की विशालता का आभास मिल रहा है। यह है भी युक्तियुक्त क्योंकि प्रण की विशालता में 'भुज की विशालता' भी सन्निविष्ट है। कोई विशाल भुजा वाला ही धनुष उठाकर प्रण की विशालता निभा सकता है।

मूल में पादपूर्त्यर्थं 'सर्वे' की दो बार आवृत्ति तथा 'च' 'तु' का निरर्थक प्रयोग इत्यादि दोष तो तुलसी के भाषान्तर में दूर हो ही गये हैं, केवल एक 'विसाल' शब्द की वृद्धि से एक गद्यात्मक श्लोक को एक उत्तम काव्य में परिणत कर देना भी तुलसी की ही पैनी दृष्टि का चमत्कार है ॥[17]

तुलसीदास संस्कृत साहित्य के ऐसे स्थलों से प्रभावित होकर भी संस्कृत साहित्य के मूल अंश में ऐसा संशोधन कर देते हैं कि वे संस्कृत साहित्य के ऋणी हैं यह कहना मात्र पर्याप्त नहीं ; बरबस यह भी कहना पड़ता है कि संस्कृत साहित्य भी उनका ऋणी है जिसे वे पद-पद पर अपने काव्य-कौशल से मार्ग-दर्शन दे रहे हैं।

शब्दविपर्यय—केवट-प्रसंग में केवट की उक्ति है—

---

१५. मानसपीयूष पृ० ४७६

१६. दण्डी, काव्य-लक्षण, दरभंगा, १९५७, १.९३

१७. डा० शिवकुमार शुक्ल ने, 'रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन' पृ०-३६० पर विवेच्य दोहे को हनुमन्नाटक (१.१८) के निम्नश्लोक से प्रभावित माना है—श्रृणुत जनककल्पक्षत्रियाः शुल्कमेते दशवदनभुजानां कुण्ठिता यत्र शक्तिः। नमयति धनुरेशं यस्तदारोपणेन त्रिभुवनजयलक्ष्मीर्जानकी तस्य दाराः ॥

स्पष्ट है इस श्लोक की अपेक्षा हमारे द्वारा दिया गया आनन्दरामायण का श्लोक तुलसी का मूल स्रोत है न कि डॉ० शुक्ल द्वारा दिया गया उपर्युक्त श्लोक।

'चरण कमल रज कहुँ सब कहई। मानुष करनि मूर कछु अहई ॥
छुवत सिला भई नारि सुहाई। पोहन ते न काठ कठिनाई ॥[१८]

इसकी तुलना महानाटक से करें—

मानुषीकरणरेणुरस्ति ते पादयोरिति कथा प्रथीयसी।
क्षालयामि तव पादपंकजे नाथ दारुदृषदोस्तु का भिदा ॥[१९]

"हे नाथ तुम्हारे चरणों की धूलि मानुषीकरण कर देती है, यह प्रसिद्ध है। मैं तुम्हारे चरणकमल धोता हूँ। भला काठ और पत्थर में भेद ही क्या है।"

केवट का संकेत अहल्या की ओर है जो पत्थर से स्त्री बन गयी थी। मूल संस्कृत में काठ और पत्थर में भेद ही क्या है' यह कहा गया है। तुलसी को वह बात जँची नहीं। काठ और पत्थर का भेद स्पष्ट है; काठ कोमल है और पत्थर कठोर। वस्तुतः यह भेद केवट के पक्ष में आ रहा है। यदि पत्थर जैसी कठोर वस्तु भी स्त्री में परिणत हो सकती है तो काठ जैसी कोमल वस्तु तो और भी सरलता से स्त्री में रूपान्तरित हो जाएगी। फिर इस भेद को छिपाने की जगह उभारा क्यों न जाय। यह विचार आते ही तुलसीदास ने शब्दों में विपर्यय कर दिया—'दारुदृषदोस्तु का भिदा' के स्थान पर तुलसीदास ने लिखा—'पाहन ते न काठ कठिनाई।' सहज ही अर्थापत्ति अलंकार निष्पन्न हो गया क्योंकि 'दण्डापूपन्याय' से नाव का स्त्री में रूपान्तरित होना और भी सरल है और साथ ही मूल की युक्ति में जो तथ्यगत असत्य था कि वह काठ और पत्थर के भेद की उपेक्षा करना चाहती थी, वह भी दूर हो गया।

इस प्रकार संस्कृत मूल में जहाँ भी तुलसीदास को शिथिलता दृष्टिगोचर हुई, उन्होंने अपनी लेखनी के स्पर्श से उस अर्थगत या भावगत शिथिलता को दूर करके संस्कृत के प्रभाव को ग्रहण किया—वे केवल अनुवादक नहीं रहे।

शब्द परिवर्तन—

सीता के स्वयंवर के समय का यह स्वगत कथन लें—

अहह तात दारुनि हठ ठानी·····
कहां वनु कुलिसहु चापि कठोरा। कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा ॥[२०]

१८. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड ९९-२-३ (पृ० ३९०)
१९. महानाटक कलकत्ता १८९०, ३-४५
२०. श्री रामचरित-मानस, बालकाण्ड, २५७. २ (पृ० २४८)

हनुमन्नाटक का निम्नलिखित श्लोक भी देखें—

कमठपृष्ठकठोरमिदं धनुर्मधुरमूर्तिरसौ रघुनन्दनः ।
कथमधिज्यमनेन विधीयतामहह तात पणस्तव दारुणः ॥[२१]

"यह धनुष कछुए की पीठ की तरह कठोर है, तथा राम मधुर देह हैं। ये धनुष की प्रत्यंचा कैसे चढ़ायेंगे। अहो! पिता, तुम्हारी प्रतिज्ञा दारुण है।"

श्लोक का प्रभाव उपर्युक्त चौपाई पर स्पष्ट है। किन्तु तुलसीदास ने मूल के 'मधुर' 'शब्द के स्थान पर' 'मृदु' शब्द रखा है। यहाँ 'विषम' अलंकार है। यहाँ धनुष की कठोरता और राम में विषमता दिखानी है। धनुष को 'कठोर' कहने के बाद राम को 'मधुर मूर्ति' कहना तुलसी को खटका। 'कठोर' का विपरीत' मधुर नहीं है, 'मृदुल' या कोमल है। 'मधुर' के शब्दकोश में अनेकार्थ हैं किन्तु मधुर का अर्थ कोमल नहीं है। तुलसी की पैनी दृष्टि से यह कमी बची न रही, उन्होंने 'मधुर के स्थान पर 'मृदु' कर दिया। 'मधुर' शब्द की पूर्ति के लिए 'श्यामल' तथा 'किशोर' दो पद और लिए। यह ज्ञातव्य है कि हनुमन्नाटक के इस श्लोक के 'मधुर' का अर्थ दीपिका टीका ने भी 'सुकुमारांग' करके तुलसी के पक्ष की पुष्टि की है।[२२]

शब्द का निराकरण—तुलसी को यदि मूल का कोई शब्द अवाञ्छनीय दृष्टिगोचर हुआ है तो उन्होंने उस शब्द को मानस से निस्संकोच रूप से हटा दिया है।

आनन्दरामायण[२३] की निम्न पंक्तियां देखें—

विश्वामित्रस्तदा प्राह रामं चोत्तिष्ठ राघव।
तन्मुने वचनं श्रुत्वा तथेत्युक्त्वा स राघवः॥
उत्तस्थावासनाद् वेगात् प्रणनाम मुनीश्वरम् ॥

"तब विश्वामित्र ने राम से कहा कि हे राघव, उठो। मुनि के वचन सुनकर राघव 'जो आज्ञा' कहकर आसन से वेगपूर्वक उठे और मुनि को प्रणाम किया।"

प्रसंग धनुषयज्ञ का है। राम को धनुष उठाना है। गुरु ने आज्ञा दे दी है। अब राम यह आज्ञा सुनकर गुरु को प्रणाम करने के लिए वेगपूर्वक (वेगात्)

---

२१. हनुमन्नाटक, १. ६
२२. हनुमन्नाटक, पृ० ५
२३. आनन्दरामायण, बम्बई

उठे, यह बात तुलसी को एकदम खटक गयी। अपने विवाह के प्रसंग में कुछ करने के लिए कहने पर गुरुजनों के सम्मुख सामान्य व्यक्ति भी 'वेगपूर्वक' नहीं उठेगा, राम जैसे धीरोदात्त व्यक्तित्व की तो बात ही क्या? तुलसी ने इसी भाव को लिखते हुए न केवल 'वेगात्' शब्द को हटाया, प्रत्युत इस शब्द के अनौचित्य को दिखलाने के लिए मानो स्वयं टिप्पणी भी दी—

उठहुं राम भंजहु भव जापा·····

सुनि गुरु वचन चरन सिर नावा। हरष विषाद न कछु उर आवा॥
ठाढ़ भये उठि सहज सुभाये···[२४]

राम में वेग न था। उनमें हर्ष-विषाद कुछ भी न था—यह सहज स्वभाव से उठे। 'परिकर बाँधि उठे अकुलाई'[२५] और 'तकि ताकि तमकि धनु धरहीं'[२६] अन्य राजाओं के लिए है जो 'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे भट मानी अतिशय मन भाखे[२७] के वर्ग में आते हैं। राम के लिए 'वेगात्' कहना अनुचित है।

'वेगात्' पर तुलसी ने सटीक टिप्पणी की—'हरष-विषाद न कछु उर आवा।' यहाँ क्रिया 'आवा' में एकवचन का प्रयोग है। 'हरष विषाद' में तुलसी ने एकवचन का प्रयोग किया है, यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से यहाँ द्विवचन (=अवधी में बहुवचन) का भी प्रयोग हो सकता था। व्याकरण के अनुसार एकवचन 'सुखदुःखम्' और द्विवचन 'सुखदुःखे' दोनों ही शुद्ध हैं।[२८]

किन्तु तुलसी कवि थे, कोरे वैयाकरण नहीं। अतः उन्होंने एकवचन का प्रयोग किया यह ध्वनित करने के लिए कि राम के लिए हर्ष-विषाद एक जैसे थे। इस प्रकार मूल में ऐसे अवसरों पर राम जैसे व्यक्ति की मनः स्थिति को वेगात् शब्द द्वारा अंकित करके बड़ी भारी भूल की गयी थी जिसे तुलसी ने विस्तार पूर्वक कारण बताते हुए दूर कर दिया।

शब्द का अर्थातिशय में प्रयोग

हनुमन्नाटक का श्लोक है—

---

२४. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, २५३. ३-४ (पृ० २४५)
२५. उपरिवत्, बालकाण्ड, २४६.३ (पृ० २४३)
२६. ,, ,, २४६. ४ (पृ० २४३)
२७. ,, ,, २४६. ३ (पृ० २४३)
२८. सिद्धान्तकौमुदी, बनारस, १६४६, पृ० १७०-विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि।

या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेपि शङ्करात् ।
दर्शनाद्राम देवस्य सा विभूतिर्विभीषणे ॥[२९]

"जो सम्पत्ति रावण को शंकर से सिर काटने पर मिली वही सम्पत्ति विभीषण को राम के दर्शन से मिल गयी ।" तुलसीदास[३०] ने इसी श्लोक से प्रभावित होकर लिखा—

'जो सम्पत्ति शिव रावनहि दीन्हि दिये दस माथ ।
सोइ संपदा विभीषनहि सकुचि दीन्ह रघुनाथ ॥

इस चौपाई की चर्चा हनुमन्नाटक के उपर्युक्त श्लोक के प्रसंग में आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल ने भी की है ।[३१] उन्होंने 'सकुचि' शब्द को राम की उदारता का व्यंजक बताया है । 'सकुचि' शब्द का ऐसा अर्थातिशय है कि मानसपीयूष[३२] में इसके निम्न छः व्यंग्यार्थ माने गये हैं—

१—लंका की जो संपत्ति राम ने दी वह अपवित्र थी ।

२-सीता की प्राप्ति की तुलना में संपत्ति अतितुच्छ थी ।

३-लंका जल चुकी थी, अतः उसे देते हुए राम को संकोच था ।

४-विभीषण भक्त है, अतः उसके लिए संपत्ति हेय है ।

५-लंका तो विभीषण की है ही ।

६-विभीषण को भक्ति दी जा चुकी है अब संपत्ति क्या दी जाए ?

वस्तुतः विभीषण के तुलसी से पूर्व वाल्मीकि द्वारा दिये गये चित्र के संदर्भ में 'सकुचि' पद का अर्थातिशय और स्फुट हो जाता है । वाल्मीकि के अनुसार विभीषण के रामपक्ष में आ जाने का कारण विभीषण की राज्य-लोलुपता थी । तुलसी की दृष्टि में विभीषण एक भक्त है । एक भक्त को राज्य दिया जाना उसकी राज्यलोलुपता न समझ ली जाए—यही संकोच राम को है । इस प्रकार तुलसी ने संस्कृत मूल के प्रभाव को ग्रहण करते हुए भी एक ऐसा शब्द जोड़ दिया है जो अपने अर्थातिशय के कारण मूल की अपेक्षा अनेकानेक नवीन अर्थों का व्यञ्जक हो गया है । 'सकुचि' पद के अर्थातिशय का आभास तुलसी को है इसलिए उन्होंने विनयपत्रिका[३३] में इसे फिर इसी प्रसंग में दुहराया है—

---

२९. हनुमन्नाटक, ७. १४
३०. श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, ४९-ख (पृ० ६५७)
३१. रामचन्द्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, प्रयाग, १९३५, पृ० ९०
३२. मानसपीयूष, सुन्दरकाण्ड, पृ० ३९५
३३. विनयपत्रिका (टीका वियोगी हरि) बनारस, १९२३, १६२

जो संपत्ति दस सीस अरपि के रावन सिव पहिं लीन्ही ।
सोइ संपदा विभीषण कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्ही ॥

मर्यादाभिनिवेश वश कथन का प्रकारान्तर—तुलसीदास को आनुषंगिक रूप में दिये गये वक्तव्यों में भी मर्यादा का अतिक्रमण सह्य नहीं है। हनुमन्नाटक में अंगद रावण से कहते हैं—

"हे रावण अपने मस्तकों के होम की विक्रमकथा रहने दो। क्या विधवा होने से डरी स्त्रियाँ अग्नि में अपनी देह को नहीं झोंक देती ?"

आस्तां मस्तकहोमविक्रमकथा पौलस्त्यविस्तारिणी ।
देहं किं न निपातयन्ति दहने वैधव्यभीताः स्त्रियः ॥[३४]

तुलसीदास को अर्थान्तरन्यास अलंकार के अन्तर्गत एक विशेष का दूसरे विशेष से समर्थन करते समय भारतीय सतियों पर लगाया गया वैधव्यभीतत्व का आरोप मर्यादा-विरुद्ध लगा। सती भीत नहीं होती—तुलसी की दृष्टि में वहाँ एक ऊँचा आदर्श है, जिसकी तुलना रावण के मस्तक होम से करना सतीत्व के आदर्श का अपमान है। तुलसीदास रावण के मस्तक होम को बाजीगर के तमाशे से ज्यादा मानने को तैयार नहीं हैं—

काटे सीस होइहि कि सूरा ।
इन्द्रजाल कहुं कहिये न बीरा ॥
काटइ निज कर सकल शरीरा ।[३५]

मूल संस्कृत श्लोक में भारतीय संस्कृति की मर्यादा का अपमान ध्वनित हो रहा था। तुलसीदास ने अर्थान्तरन्यास में तुलना का मापदण्ड बदलकर उस मर्यादा की पूर्ण रक्षा की।

कला-पक्ष—संस्कृत साहित्य से प्रभावित मानस के प्रसंगों का विशुद्ध कलापक्ष की दृष्टि से स्वतन्त्र विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं है। उपर्युक्त विवेचन में कलापक्ष की विवेचना भी आ गयी है। यहाँ एक उदाहरण यह दिखलाने के लिए दिया जा रहा है कि तुलसी का कलाकार मन कितना प्रबुद्ध और परिष्कृत था। हनुमन्नाटक का श्लोक है

---

३४. हनुमन्नाटक, ८. ५६

३५. श्रीरामचरितमानस, लंकाकाण्ड, २८. ५। यह राजशेखर के अनुसार 'रत्नमाला' का उदाहरण होगा क्योंकि यह पूर्ण वर्णित अर्थ प्रकारान्तर से कहा गया है।

पथि पथिकवधूभिः सादरं पृच्छ्यमाना कुवलयदलनीलः कोऽयमार्ये तवेति ।
स्मितविकसितगण्डं व्रीडविभ्रान्तनेत्रं मुखमवनमयन्ती स्पष्टमाचष्ट सीता ॥[३६]

भाव यह है कि बनवास के समय सीता से स्त्रियों द्वारा यह पूछने पर कि ये नील कमल के समान नीलवर्ण तुम्हारे कौन हैं, सीता ने मुस्कराकर मुंह नीचा करके संकोचवश आँखों के संकेत से सब कुछ कह दिया।

अब इस श्लोक के उत्तरार्ध की दो पंक्तियों में ६ मूर्धन्य वर्ण हैं और वे भी अत्यन्त निकटवर्ती—'गण्डं व्रीडविभ्रान्तनेत्रं' 'स्पष्टमाचष्ट'। यहाँ श्रुतिकटु दोष है और प्रसंग की सुकुमारता को देखते हुए यह श्रुतिकटु दोष और भी असह्य हो गया है। सीता ने संकोचवश आँखों के तिरछे संकेत से यह बताया है कि ये मेरे पति हैं। इस संकोच और आँखों के तिरछे संकेत के प्रसंग के अवसर पर 'गण्डं व्रीडविभ्रान्तनेत्रं' 'स्पष्टमाचष्ट' जैसे पदों का प्रयोग कदापि उचित नहीं है। तुलसीदास द्वारा इसी अवसर पर प्रयोग की जाने वाली पदावली दर्शनीय है। भाव वही है किन्तु पद शैय्या की सुकुमारता मूल की कटुता के सर्वथा विपरीत है—

प्रिय तन चितइ भौंह करि बाँकी[३७]

खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहे तिन्हहि सिय सयननि॥

यहाँ मूल के ६ मूर्धन्य वर्णों के स्थान पर केवल दो मूर्धन्य हैं और उनमें भी रेफ का ही प्रयोग है, टवर्ग का नहीं; जब कि मूल में टकार और डकार का दो बार तथा णकार का एक बार प्रयोग था। 'पिय तनु चितई भौंह करि बांकी' में सीता की चितवनि का बांकापन मानों पदावली में ही उतर आया है। 'निज पति कहे तिन्हहि सिय नयननि' तथा 'स्पष्टमाचष्ट सीता' का भाषा तथा भाव दोनों दृष्टियों से कोई मुकाबला ही नहीं। संस्कृत जैसी समृद्ध काव्यमय भाषा की रचना की तुलना में अवधी भाषा के माध्यम से लिखते हुए इतनी प्रसंगानुकूल सुकुमार पदशैय्या देने वाले तुलसी सचमुच रससिद्ध कवीश्वर हैं।

एक दूसरा पक्ष—ऊपर के विवेचन से यह न समझ लिया जाय कि तुलसी रामचरित-मानस की तुलना में संस्कृत का राम साहित्य हेय है। उपर्युक्त सारे विवेचन में यह द्रष्टव्य है कि वाल्मीकि रामायण का एक भी

---

३६. हनुमन्नाटक, ३. १५ वहाँ स्मित व्रीडादि का प्रकारान्तर से वर्णन होने के कारण राजशेखर के अनुसार यह प्रति-कंचुक का उदाहरण होगा।

३७. श्रीरामचरित-मानस, अयोध्याकाण्ड, ११६. ४ (पृ०-४०२)

उदाहरण नहीं मिला जहाँ तुलसी वाल्मीकि रामायण के किसी अंश से प्रभावित होकर लिखें और मूल में कुछ परिवर्तन या संशोधन न सुझा सकें।

वाल्मीकि वस्तुतः ऋषि हैं, तुलसी मुख्यतः सन्त हैं। ऋषि शब्द का प्रयोग हम यहाँ किसी रूढ़ अर्थ में न करके अपने मूल अर्थ में कर रहे हैं। वाल्मीकि द्रष्टा हैं—समग्र जीवन के द्रष्टा। उन्होंने जीवन का जैसा साक्षात्कार किया उसे वैसा ही काव्य में प्रतिफलित कर दिया है—वे यथार्थवादी हैं। इसके विपरीत तुलसी ने रामायण की प्रत्येक घटना को आदर्श के सांचे में ढालकर रखा है इसलिए तुलसी इतने विश्वसनीय नहीं बन पाये हैं, जितने वाल्मीकि। तुलसी की रामायण इतने अलौकिक तत्त्वों से भरी है कि वह केवल काव्य की दृष्टि से रामायण पढ़ने वालों को बेतुकी लगेगी। लक्ष्मण को संदेह होता है कि भरत कहीं लड़ने तो नहीं आ रहे कि इतने में ही आकाशवाणी हो जाती है कि भरत सदाशयता से आ रहे हैं। एक अन्तर्द्वन्द्व दिखलाने का सुन्दर अवसर तुलसी ने अलौकिकता के प्रलोभन में खो दिया। यही नहीं तुलसी ने असली सीता के स्थान पर माया सीता का अपहरण दिखलाकर पूरी रामायण की कथा का सौन्दर्य ही समाप्त कर दिया है। भक्त हृदय इस पर मुग्ध है किन्तु साहित्यिक व्यक्ति को इस पर आपत्ति हो सकती है। वाल्मीकि रामायण इन दोषों से बहुत कुछ मुक्त है। वहाँ राम मुख्यतः मनुष्य हैं और यदि वे नरलीला भी कर रहे हैं तो भी वह इतनी सहज और स्वाभाविक है कि किसी को यह संदेह नहीं हो सकता कि वे लीला कर रहे हैं। तुलसी के राम को रामायण का प्रायः प्रत्येक पात्र चाहे वह रावण ही क्यों न हो भगवान के रूप में जानता है। अतः वह नरलीला न होकर भगवल्लीला बन गयी है। वाल्मीकि तुलसी की अपेक्षा समय में प्राचीन किन्तु दृष्टिकोण में कहीं अधिक आधुनिक हैं। उनकी रामायण सम्पूर्ण जीवन का काव्य है, उसमें असत्य को नकारा नहीं गया है। श्रीरामचरितमानस भक्ति-काव्य है, भक्ति को निकाल दें तो मानस का केवल शरीर रह जाएगा, आत्मा चली जाएगी।

हम इस पर अधिक नहीं कहना चाहते हैं क्योंकि पहले भी इस विषय पर पर्याप्त कहा जा चुका है।[३८] मानस का एक प्रसंग हम लेंगे क्योंकि उसकी

---

३८. द्रष्टव्य। डा० विद्यामिश्र, वाल्मीकिरामायण एवं रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन, लखनऊ, १९६३ (२) डा० रामप्रकाश अग्रवाल वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन, मेरठ, १९६६ (३) डा० जगदीश शर्मा, वाल्मीकि रामायण और रामचरित मानस, सौंदर्य विधान का तुलनात्मक अध्ययन, गुलाब पुरा, १९६९

चर्चा वाल्मीकि और तुलसी के संदर्भ में प्रासंगिक होते हुए अब तक किसी ने नहीं की है—ऐसा लगता है।

राम के राज्याभिषेक का निर्णय हो चुका है। राम सोचते हैं, हम सब भाइयों के सभी कार्य एक साथ हुए किन्तु हमारे निर्मल वंश की एक यही प्रथा अनुचित है कि अन्य भाइयों को छोड़कर बड़े भाई का ही राज्याभिषेक होता है—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनवेध उपवीत विआहा। संग संग सब भार उछाहा॥
विमल वंश यहु अनुचित एकू। बन्धु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥[३९]

यह कह कर राम पछताते हैं, उनका यह पछताना भक्तों के मन की कुटिलता को दूर करे—

प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन की कुटिलाई॥[४०]

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि वे भक्त कौन हैं, जिनके मन की कुटिलता हरने की यहाँ कामना की जा रही है। भक्त के मन में कुटिलता कैसी? और फिर राम का वह पछताना उनके मन की कुटिलता कैसे दूर करेगा?

इन प्रश्नों का उत्तर हमारी विनम्र सम्मति में वाल्मीकि रामायण में है। बाल्मीकि ने यह लिखा है कि दशरथ ने राम से कहा कि हम उचित समझते हैं कि राम का राज्याभिषेक भरत के आने के पहले ही हो जाए—[४१]

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरोहितः।
तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम॥
कामं खलु सतां धर्मे भ्राता ते भरतः स्थितः।
ज्येष्ठानुवर्ती धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः
किं तु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतिः।

स्पष्ट संकेत यह है कि दशरथ के मन में भरत के प्रति संदेह है और इस संदेह में राम भी भागीदार हैं। मानस के राम तथा भरत के चरित्र को देखते हुए यह कहना कि राम भरत के प्रति संदेह रखते थे, बड़ी कुटिलता होगी। किन्तु यह 'कुटिलता' वाल्मीकि की कृति में है। वाल्मीकि तुलसी के परम पूज्य हैं, वे उनके आराध्य देव के चरित्र के प्रथम गायक हैं, राम-कथा भी गंगोत्री है।

---

३९. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, ९. २. ४ (पृ० ३३०)
४०. उपरिवत्, अयोध्याकाण्ड, ९.४ (पृ० ३३०)
४१. वाल्मीकि रामायण, बम्बई. १९३४, २. ४. २५-२७

उनके प्रति कुछ कहना तुलसी के लिए संभव न था किन्तु अपने आराध्यदेव राम पर इतना बड़ा लाञ्छन भी वह सहन नहीं कर सकते थे कि वे भरत पर संदेह कर उसकी अनुपस्थिति में राज्य हड़पने की योजना बनायें या ऐसी किसी योजना में भागीदार हों। अत: तुलसी ने राम के मुँह से उस प्रथा की ही निन्दा करवा दी, जिसके अन्तर्गत उनका अभिषेक होना था और उन्हें यह दु:ख हुआ कि अभिषेक उनका अकेले का हो और सब भाइयों का नहीं। उनका इस प्रकार दु:ख करना भक्तों के मन की कुटिलता दूर करे। स्पष्ट है कि वहाँ भक्त से अभिप्रेत स्वयं वाल्मीकि हैं। आराध्यदेव के आदर्श-चरित्र को अक्षुण्ण रखने के लिए वाल्मीकि की कल्पना को भी तुलसी को 'कुटिल' कहना पड़ा और फिर उस कुटिलता के परिमार्जन की कामना भी अपनी युक्ति से की। यह अर्थ न लेने पर 'हरउ भगत मन की कुटिलाइ' पंक्ति की यहाँ कोई संगति नहीं बनती यद्यपि मानस पीयूष में इस पंक्ति की संगति लगाने के लिए वहाँ ७-८ विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत दिये हैं।[४२]

इन भक्तों में प्राय: कथावाचकों के मत हैं। किन्तु यहां आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना:—

'कोई आदमी कुटिल है, सरल कैसे हो? गोस्वामी जी कहते हैं कि जीवन की सरलता के अनुभव से राम के अभिषेक की तैयारी हो रही है, इस पर राम सोचते हैं—"जनमे एक संग" इत्यादि [४३]

वस्तुत: ऐसे पचासों स्थल हैं, जहाँ तुलसी की आदर्शवादिता वाल्मीकि की यथार्थ दृष्टि से बहुत दूर जा पड़ती है। एक उदाहरण है जहाँ यह विरोध स्पष्ट है। सीता रावण के यहाँ से लौटी हैं। वाल्मीकि रामायण में राम उनसे कहते हैं—

"हे सीता, तुम यथासुख लक्ष्मण या भरत में अपना मन लगाओ"। या जैसा तुम्हें अच्छा लगे करो— शत्रुघ्न, सुग्रीव या राक्षस विभीषण में अपना मन लगाओ।[४४]

अब तुलसी के लिए राम के मुँह से सीता के लिए यह शब्द निकालना स्वप्न में भी असम्भव था। उन्होंने मानस में इन वाक्यों को न कहलवाकर केवल इतना कह दिया कि राम ने सीता को कुछ 'दुर्वाद' कहे—

---

४२. मानसपीयूष, अयोध्याकाण्ड, पृ० ६८-६९

४३. उपरिवत्, अयोध्याकाण्ड, पृ० ६९

४४. वाल्मीकि रामायण, ६/११५/२१-२३

तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्वाद ।[४५]

अध्यात्मरामायण ने भी यह कहकर इस प्रसंग पर परदा डाला था—
'आवाच्यान्बहुश: प्राह तां तदा रघुनन्दन: ।[४६]

यद्यपि इन स्थलों पर तुलसीदास वाल्मीकि रामायण से स्थूल अर्थों में प्रभावित नहीं हैं किन्तु सूक्ष्म अर्थों में प्रतिक्रिया भी प्रभाव का ही एक रूप है। हमें तो लगता है कि स्थान स्थान पर वाल्मीकि को अपने आदर्शों के विरुद्ध जाते देख कर तुलसी को लगा होगा वाल्मीकि तो राम नाम को उलटा जप रहे होंगे—

जान आदि कवि नाम प्रतापू । भयउ सुद्ध हरि उलटा जापू ।।[४७]

हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वाल्मीकि के प्रति तुलसी के मन में कोई दुर्भावना है। उन्होंने वाल्मीकि की वन्दना अत्यन्त विनयपूर्वक की है—

बंदऊँ मुनि पद कंज रामायन जेहि निरमयउ ।
सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूसन रहित ।।[४८]

किन्तु इस पर भी तुलसी और वाल्मीकि का मार्ग पृथक्-पृथक् हैं जो कभी कभी परस्पर विपरीत भी प्रतीत होता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनमें से कोई एक अप्रामाणिक है—

पुन: पुन: कल्पभेदाज्जाता: श्रीराघवस्य हि ।
कल्पभेद हरिचरित सुहाए । भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए ।
करिअ न संसय अस उर आनी । सुनिअ कथा सादर रति मानी ।।[४९]

अन्यथा यह कैसे कल्पना की जा सकती है कि तुलसी के राम वाल्मीकि के राम की तरह यह कह दें कि—

"हे लक्ष्मण, कौन मूर्ख व्यक्ति स्त्री के लिए आज्ञाकारी पुत्र को ऐसे छोड़ देगा, जैसे मेरे पिता ने मुझे छोड़ दिया ।[५०]

---

४५. श्रीरामचरितमानस, लंकाकाण्ड, १०८ (पृ० ७५८)
४६. अध्यात्मरामायण, १२/७४-७५
४७. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड १८.३ (पृ० ७७)
४८. उपरिवत्, बालकाण्ड, १४ घ (पृ० ७३)
४९. आनन्दरामायण, बालकाण्ड, (पृ० १७७) । तुलनीय : नलचम्पू, १.११ सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला । नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा ।
५०. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, २. ५३. १०

तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद ।[४५]

अध्यात्मरामायण ने भी यह कहकर इस प्रसंग पर परदा डाला था—
'आवाच्यान्बहुश: प्राह तां तदा रघुनन्दन: ।[४६]

यद्यपि इन स्थलों पर तुलसीदास वाल्मीकि रामायण से स्थूल अर्थों मे प्रभावित नहीं हैं किन्तु सूक्ष्म अर्थों में प्रतिक्रिया भी प्रभाव का ही एक रूप है। हमें तो लगता है कि स्थान स्थान पर वाल्मीकि को अपने आदर्शों के विरुद्ध जाते देख कर तुलसी को लगा होगा वाल्मीकि तो राम नाम को उलटा जप रहे होंगे—

जान आदि कवि नाम प्रतापू । भयउ सुद्ध हरि उलटा जापू ।।[४७]

हमारा यह अभिप्राय कदापि नही है कि वाल्मीकि के प्रति तुलसी के मन में कोई दुर्भावना है। उन्होने वाल्मीकि की वन्दना अत्यन्त विनयपूर्वक की है—

बंदऊँ मुनि पद कंज रामायन जेहि निरमयउ ।
सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूसन रहित ।।[४८]

किन्तु इस पर भी तुलसी और वाल्मीकि का मार्ग पृथक्-पृथक् हैं जो कभी कभी परस्पर विपरीत भी प्रतीत होता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनमें से कोई एक अप्रामाणिक है—

पुन: पुन: कल्पभेदाज्जाता: श्रीराघवस्य हि ।
कल्पभेद हरिचरित सुहाए । भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए ।
करिअ न संसय अस उर आनी । सुनिअ कथा सादर रति मानी ।।[४९]

अन्यथा यह कैसे कल्पना की जा सकती है कि तुलसी के राम वाल्मीकि के राम की तरह यह कह दें कि—

"हे लक्ष्मण, कौन मूर्ख व्यक्ति स्त्री के लिए आज्ञाकारी पुत्र को ऐसे छोड़ देगा, जैसे मेरे पिता ने मुझे छोड़ दिया ।[५०]

---

४५. श्रीरामचरितमानस, लंकाकाण्ड, १०८ (पृ० ७५८)
४६. अध्यात्मरामायण, १२/७४-७५
४७. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड १८.३ (पृ० ७७)
४८. उपरिवत्, बालकाण्ड, १४ घ (पृ० ७३)
४९. आनन्दरामायण, बालकाण्ड, (पृ० १७७) । तुलनीय : नलचम्पू, १.११ सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला । नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा ।
५०. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, २. ५३. १०

तुलसी तो क्या, तुलसी के पितृ-भक्त राम के जन-जन के मन में बस जाने के कारण वाल्मीकिरामायण के इस श्लोक को आज कोई भी हिन्दू प्रामाणिक मानने को तैयार नहीं होगा। किन्तु तुलसी अपना समाधान दे चुके हैं—

कल्प भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥

निष्कर्ष—रामचरितमानस पर संस्कृत साहित्य का अत्यन्त व्यापक प्रभाव है, किन्तु जैसा कि प्रायः मान लिया जाता है कि तुलसी ने संस्कृत साहित्य का अनुवाद मात्र कर दिया है, यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। संस्कृत साहित्य से सीधे प्रभावित स्थलों पर भी तुलसीदास ने रामचरितमानस में कहीं अभिव्यक्ति की भंगिमा में भेद डालकर, कहीं कोई शब्द जोड़कर, कहीं कोई शब्द हटाकर, कहीं कोई शब्द बदलकर तथा कहीं शब्द प्रयोग के कौशल से न केवल मूल की धूल दूर की है प्रत्युत काव्य-सौन्दर्य की भी अतिशय वृद्धि की है। मर्यादा तथा आदर्श की रक्षा के लिए वे अपने परम पूज्य वाल्मीकि को अत्यन्त सजग आलोचक, सहृदय कवि तथा आदर्शों के गायक के रूप में ग्रहण करते हैं—यांत्रिक रूप में नहीं। उनका मुख्य उद्देश्य राम का गुणगान है, कविता लिखना नहीं किन्तु विशुद्ध कला पक्ष की दृष्टि से भी वे संस्कृत के मूल कवियों की भूलों को बराबर सुधारते चले गए हैं।

तुलसी के मानस की अपनी सीमायें अवश्य हैं—विशेष कर आदि-कवि वाल्मीकि के व्यापक जीवन-दर्शन के सामने, लेकिन तब भी राम को जन-जीवन में आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में स्थापित उन्होंने ही किया है, किसी संस्कृत के कवि ने नहीं। फिर वाल्मीकि के वीर रस, संस्कृत नाटकों के शृङ्गार रस तथा अध्यात्म रामायण के भक्ति रस की त्रिवेणी में एकत्र स्नान करना हो तो मानस में ही अवगाहन करना होगा। संस्कृत साहित्य के प्रभाव को निष्क्रिय यांत्रिक रूप में ग्रहण न करने का ही यह परिणाम है कि वह अध्यात्मरामायण जिस पर रामचरितमानस का ढाँचा खड़ा हुआ है आज केवल एक सम्प्रदाय तक सीमित रह गई है किन्तु रामचरितमानस जन-जन का कंठहार बना हुआ है।

हमारा तो यह कहना है कि एक दृष्टि से तुलसी की काव्य प्रतिभा के मूल्यांकन का अवसर संस्कृत साहित्य से प्रभावित स्थलों में अधिक है अपेक्षाकृत उन स्थलों के जो तुलसी के बिल्कुल अपने हैं।

22

रामायण में समन्वय की भावना

वाल्मीकि की रामायण में भारत की न केवल भौगोलिक, अपितु सांस्कृतिक एकता भी स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती है। यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से उन दिनों भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था परन्तु इन राज्यों के निवासियों में एक ऐसी मौलिक समन्वय की भावना थी कि राज्यों की पार्थिव सीमायें उनके निवासियों के हृदयों को विभक्त न कर सकीं। दशरथ ने कैकेयी से राम को वन में न भेजकर किसी भी प्रदेश का राज्य माँगने का आग्रह करते हुए निम्न प्रदेशों के नाम गिनवाए—

द्राविडाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः।
वङ्गाङ्गमगधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोसलाः॥ अयो. १०. ३७.

इस श्लोक में परिगणित राज्यों के नाम इस बात के प्रमाण हैं कि वाल्मीकि भारत की भौगोलिक एकता से सुपरिचित थे। पश्चिम में सिन्धु, सौवीर तथा सौराष्ट्र, उत्तर में काशी और कोसल, पूर्व में मगध, अंग और वंग तथा दक्षिण में द्राविड और दक्षिणापथ—इस प्रकार लगभग सारा भारत रामायण में भौगोलिक दृष्टि से एक राष्ट्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

रामायण में इन राज्यों की परिगणना मात्र ही की गई हो, यह बात नहीं है। इन सभी राज्यों के निवासी सांस्कृतिक तथा धार्मिक अवसरों पर एकत्रित होकर अपनी एकता को सक्रिय बनाये रखते थे। दशरथ के अश्वमेध यज्ञ में वशिष्ठ ने सुमन्त्र को केकयराज, अंगेश्वर, कोसलराज तथा मगधाधिपति के अतिरिक्त दक्षिण भारत के राजाओं को भी आमन्त्रित करने का आदेश दिया था—

प्राचीनान्सिन्धुसौवीरान्सराष्ट्रेयांश्च पार्थिवान्।
दाक्षिणात्यान्नरेन्द्रांश्च समस्तानानयस्व ह॥ बा. का. १३. २७-२८

राम को युवराज पद देते समय चारों दिशाओं के न केवल आर्य अपितु आर्येतर एवं आदिवासी राजा भी उपस्थित थे—

प्राच्योदीच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भूमिपाः।
म्लेच्छाश्चार्याश्च ये चान्ये वनशैलान्तवासिनः॥ अयो. ३.२५

किष्किन्धा काण्ड में सुग्रीव ने सीता को खोजने के लिए वानरों को भेजते समय मेकल, उत्कल, दशार्ण, अवन्ती, विदर्भ, ऋष्टिका, माहिषक, मत्स्य, कलिंग, कौशिक, आन्ध्र, पुंड्र, चोल, पाण्ड्य तथा केरल का नामोल्लेख किया है (कि० ४१. ६—१२।

रामायण में चार प्रमुख यात्राओं का वर्णन है—पहली राम की सिद्धाश्रम यात्रा, तथा मिथिला-यात्रा, दूसरी वन-यात्रा, तीसरी भरत की कैकेय से अयोध्या-यात्रा तथा चौथी रावण की लंका से मरीचि के आश्रम की ओर यात्रा। इन चारों स्थानों पर मार्ग में आने वाले प्रदेशों का वर्णन वाल्मीकि ने इतनी तन्मयता तथा अपनत्व की भावना से किया है कि पाठक के मानस पर उन प्रदेशों की भावनात्मक एकता की सहज छाप पड़े बिना नहीं रहती। वितस्ता (झेलम), चन्द्रभागा (चिनाव), इरावती (रावी), विपाशा (व्यास), तथा शतद्रु (सतलुज) नामक पंजाब की प्रसिद्ध पाँच नदियों के अतिरिक्त सरस्वती (घग्घर), दृषद्वती (चितांग), यमुना, इक्षुमती (ईखन), चर्मण्वती (चम्बल), गोमती, तमसा, हिरण्यवाहु (सोना), कौशिकी (कोसी), लौहित्या (ब्रह्मपुत्र) आदि उत्तर भारत की नदियों तथा नर्मदा, पयोष्णी (ताप्ती) गोदावरी एवं ताम्रपर्णी आदि दक्षिण भारत की नदियों तथा अर्बुद, विन्ध्य, सह्य, दर्दुर, मलय, महेन्द्र, माल्यवान, मैनाक तथा त्रिकूट आदि पर्वतों के सजीव चित्रण केवल काव्यात्मक दृष्टि से ही नहीं अपितु राष्ट्रीयता की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। संक्षेप में उत्तर में कम्बोज से लेकर दक्षिण में पाण्ड्य तक तथा पश्चिम में गन्धर्व से लेकर पूर्व में कामरूप तक सारे भारत की विन्ध्य-हिमाचल गंगा यमुना' युक्त शस्यश्यामला वसुन्धरा को एकराष्ट्र के सूत्र में बाँध दिया गया है।

रामायण में जड़ भौगोलिक एकता की अपेक्षा भी चेतनात्मक सांस्कृतिक एकता पर अधिक बल दिया गया है। आर्य-संस्कृति, वानर-संस्कृति तथा राक्षस-संस्कृति का निरूपण रामायण में विशेष रूप से हुआ है। इन तीनों संस्कृतियों में बाह्य विभिन्नता होते हुए भी आन्तरिक एकता है। इन तीनों संस्कृतियों का मूल आधार हैं—वेद। आर्य राम स्वयं तो 'वेद—वेदांग—तत्त्वज्ञ' (बा. क. १. १४) तथा सम्यक्विद्याव्रतस्नात (अयो. २. ३४) थे ही, वानर संस्कृति के प्रतिनिधि हनुमान भी चारों वेदों में इतने प्रवीण थे कि उनके वार्तालाप के ढंग से ही राम ने यह अनुमान लगा लिया कि जो व्यक्ति ऋग्वेद की शिक्षा पाये हुए न हो, यजुर्वेद का अभ्यास किये हुए न हो और सामवेद का ज्ञाता न हो, वह ऐसी वाणी नहीं बोल सकता—

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्। कि. ३.२८

आर्यों और वानरों की तो बात ही क्या, राक्षसराज रावण भी 'वेद-विद्या-व्रत-स्नात' था (यु० १२-६०)। हनुमान ने लंका में देखा कि राक्षस वेदपाठ में संलग्न थे:—

शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै।
स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान्ददर्श ह॥ (सु० ४-१३)

वैदिक संस्कृति का केन्द्र है—यज्ञानुष्ठान। वन में विश्वामित्र और अयोध्या में दशरथ, सभी यज्ञों में व्यापृत रहते थे। वानर भी अग्नि को इतना पवित्र मानते थे कि राम से मैत्री करते समय सुग्रीव ने प्रदीप्त अग्नि को साक्षी बनाया—

ततोऽग्निं दीप्यमानं तौ चक्रतुश्च प्रदक्षिणम्।
सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वमुपागतौ॥ (कि० का० ५.१५.१६)

ब्राह्मणों और यज्ञों के कट्टर शत्रु राक्षस भी सेनापति प्रहस्त के रणभूमि में जाते समय उसकी मंगल-कामना के लिए न केवल अग्नि में आहुतियाँ देने लगे, अपितु ब्राह्मणों को भी नमस्कार करने लगे—

हुताशनं तर्पयतां ब्राह्मणांश्च नमस्यताम्। (सु० का० ५७-२१)

रावण की मृत्यु पर विलाप करते समय विभीषण ने उसे प्रतिदिन अग्नि होत्र करने वाला बताया है—

एषो हिताग्निश्च महातपाश्च वेदान्तगः कर्मसु चाग्र्यवीर्यः।[२५]

स्पष्ट है कि आर्य, वानर एवं राक्षसों में क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की प्रधानता के कारण उनके आचार-विचार में अन्तर अवश्य था। परन्तु यह अन्तर मौलिक नहीं था। यह तीनों संस्कृतियाँ वेद एवं वेद में प्रतिपादित कर्मकाण्ड पर अवलम्बित थीं। स्त्री-पात्रों के चरित्र पर दृष्टिपात करने से भी तीनों संस्कृतियों की एकता परिलक्षित होती है। तीनों संस्कृतियाँ पतिव्रतधर्म को सर्वोपरि मानती हैं। आर्यों में अहल्या तथा सीता, वानरों में तारा तथा राक्षसों में मन्दोदरी को इस गुण के कारण इतना महत्व मिला कि बिना आर्य-अनार्य का भेद किये, इन चारों का ही स्मरण पाप-विनाशक मान लिया गया है—

अहल्या द्रौपदी सीता तारा मन्दोदरी तथा।
पञ्च कन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्॥

यह रामायण की समन्वयात्मक दृष्टि का सुन्दर निदर्शन है।

रामायण काल में संस्कृत भाषा ने भी भारत को एकता के सूत्र में पिरोने में बहुत सहायता की। वानर आदि वन्य जातियों अथवा राक्षसों से सम्पर्क करने में राम को कहीं भी दुभाषिये की आवश्यकता नहीं हुई। कुछ स्थानीय

भेद के साथ सभी संस्कृत बोल और समझ सकते थे। अशोक-वाटिका में हनुमान ने सीता को अपना सन्देश मानुषी संस्कृत में ही कहा यद्यपि वे द्विजातियों की परिष्कृत साहित्यिक संस्कृत में भी बोल सकते थे। परन्तु उन्हें यह भय था कि ऐसा करने से कहीं सीता उन्हें रावण न समझ ले क्योंकि रावण द्विजातियों की संस्कृत बोलता था। इस दृष्टि से तो रावण वानरों की अपेक्षा भी आर्य-संस्कृति के अधिक निकट आता है—

अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः।
वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्॥
यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥ सु.का. ३०.१७.१८

यही नहीं, बहुत से राक्षस संस्कृत-ज्ञान का अनुचित लाभ भी उठाते थे। वे संस्कृत में ब्राह्मणों को आमन्त्रित करते थे और फिर उन्हें धोखे से मार डालते थे—

धारयन् ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्।
आमन्त्रयति विप्रान् स श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः॥ अरण्य का० ११.५५

राम ने बालि या रावण को मार कर वानर संस्कृति अथवा राक्षस-संस्कृति का नाश करने की बात कभी नहीं सोची। उनके राज्य में बिना किसी प्रकार का हस्तक्षेप किए उन्होंने सुग्रीव और विभीषण को वहाँ प्रतिष्ठित कर दिया। अपनी इस उदारता के बल पर ही वन में एकाकी राम इतनी सैन्य-शक्ति का संचय कर पाए कि रावण जैसे पराक्रमी सम्राट् को परास्त कर सके। उनकी सौम्यता के वशीभूत होकर ही वन में गुहराज अपना समस्त राज्य उन पर न्यौछावर करने को तैयार हो गए थे —

वयं प्रेष्या भवान्भर्ता साधु राज्यं प्रशाधि नः। अयो० ५०-३१

राम ने निषाद जाति के गुहराज को अपनी भुजाओं में समेट लिया—

—भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पीडयन्वाक्यमब्रवीत्। अयो० ५०-४१

इस व्यवहार से गुहराज इतना प्रभावित हुआ कि भरत को ससैन्य आते देखकर उन्हें राम का शत्रु समझ कर उनसे लड़ने को तैयार हो गया—

यदि तुष्टस्तु भरतः रामस्येह भविष्यति।
इयं स्वस्तिमती सेना गंगामद्य तरिष्यति॥ अयो० ८४-९

इस अकृत्रिम प्रेम के सम्मुख जाति-पाँति एवं ऊँच-नीच के सब भेद समाप्त हो जाते हैं। इधर राम भी शबरी द्वारा सञ्चित वन्य फल-मूलों को प्रेमपूर्वक ग्रहण करते हैं और शबरी को 'अवहिष्कृता' बतलाते हैं। अ.७४.१९

पक्षीराज जटायु ने राम के सम्मुख जो सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया है उसमें न केवल दैत्य, दानव तथा मनुष्यों को अपितु वानर, नाग, मृग आदि वन्य जातियों को भी एक ही परिवार का सदस्य बताया है। अ. का १४.५ ५३

राम का प्राणिमात्र के प्रति उदार दृष्टिकोण था। रावण की मृत्यु पर वे विभीषण से बोले, "वैर मरण के साथ ही समाप्त हो जाता है। हमारा कार्य सम्पन्न हुआ। हे विभीषण! इसका अन्त्येष्टि संस्कार सम्पन्न करो। जैसा यह तुम्हारे लिए है, वैसा ही मेरे लिए भी है"--

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥ सु० १६०-२५

इस समन्वय-दृष्टि की समर्थक होने के कारण ही रामायण भारत के सभी प्रान्तों के सभी मतावलम्बियों में समान रूप से इतनी लोकप्रिय हो गई है।

23

FAIRY TALES AND FABLES : THEIR MIGRATION TO THE WEST

Fables are very popular from the earliest times amongst Indians. There are no stories in the Ṛgveda, but the Upaniṣads contain many interesting stories. In the Mahābhārata we can trace the origin of many of the stories of the Pañcatantra. The Buddhists in their Jātaka stories established a close relationship between the animals and the men, which became a common feature of Indian stories. There is evidence to show that beast fables were current at the time of Patañjali.

The fables of India are famous for their ethical tone and practical wisdom. They teach morality but with due regard to the necessities of life. The works of fairy tales and fables contain stories within stories after the fashion of a set of Chinese boxes.

Most of the stories are told in direct speech. The Buddhists and the Jainas also used tales to illustrate the points of their respective philosophies.

The writers on Sanskrit poetics did not make any distinction between the fable and the tale. All sorts of human actions are transferred to the animal kingdom in the works of fairy tales and fables. The main narrative of these works is related in prose whereas the universal truths are given verses profusely occurring in the text of the stories.

The earliest work containing the collection of fables is the Bṛhatkathā of Guṇāḍhya. Guṇāḍhya has been given the same place as Vālmīki and Vyāsa. Guṇāḍhya is mentioned by great poets like Govardhana, Bāṇa and Daṇḍin. Scholars are of the opinion that this work may have been available till the twelfth century A.D. No traces of this work, however, are available today. It is known only from its abridgements Kathāsaritsāgara and Bṛhatkathāmañjarī of Somadeva and Kṣemendra of Kashmir, Bṛhatkathā-ślokasaṁgraha of

Budhasvāmi of Nepal and Bṛhat-kathā-mañjarī of Vāmana Bhaṭṭa of South India.

The story of Bṛhat-kathā gives the adventures of Naravāhana datta, son of Udayana of Kauśāmbī.

The earliest abridgement of the Bṛhat-kathāśloka-saṁgraha is by Budhasvāmī of Nepal. It is considered to be a work of the 8th or 9th century A.D. The work is available only in fragments containing 4539 verses in 28 Cantos. It is supposed to have at least 25000 verses. This work has many Prākṛta forms suggesting that it is nearer to the original. Budhasvāmī has been praised for his lively outlook on life, for his vivid descriptions and well conceived characters. His style is simple and without verbosity. This work was discovered in Nepal and, therefore, it has been connected with that country.

The second abridgement of this work Bṛhat-kathā-mañjarī was prepared in 1037 A.D. by Kṣemendra. Kṣemendra tried to condense a lengthy story in 7500 stanzas which made his work cumbersome. From two other abridgements of the Mahābhārata and the Rāmāyaṇa it can safely be inferred that his Kathāmañjarī is a faithful representation of the original.

The third abridgement of Bṛhatkathā was prepared by Somadeva between 1063 and 1081 A.D. It has eighteen chapters, 124 sub-chapters and 24000 stanzas. Kathā-sarita-sāgara is superior to Bṛhat-kathā-mañjarī in many respects. Somadeva is not obscure as Kṣemendra. Somadeva's style is attractive and simple. His knowledge of human nature is superb His work has all the characteristics of a mahākāvya. One of the most popular stories in this work is that of king Śibi who sacrificed his life to save a pigeon from a hawk.

Another old collection of the stories is Avadāna Śataka which was translated into Chinese in the middle of the 3rd century A.D. The purpose of these stories is to establish the doctrine of Karman. The author of this collection who must have been a Buddhist is not known. Kṣemendra took some of these stories and composed Avadānakalpalatā. Another book dealing with the life of Bodhisattva is the Jātakamālā of Ārya Śūra which was translated into Chinese in 434 A.D.

Budhasvāmi of Nepal and Bṛhat-kathā-mañjarī of Vāmana Bhaṭṭa of South India.

The story of Bṛhat-kathā gives the adventures of Naravāhana datta, son of Udayana of Kauśāmbī.

The earliest abridgement of the Bṛhat-kathāśloka-saṁgraha is by Budhasvāmī of Nepal. It is considered to be a work of the 8th or 9th century A.D. The work is available only in fragments containing 4539 verses in 28 Cantos. It is supposed to have at least 25000 verses. This work has many Prākṛta forms suggesting that it is nearer to the original. Budhasvāmī has been praised for his lively outlook on life, for his vivid descriptions and well conceived characters. His style is simple and without verbosity. This work was discovered in Nepal and, therefore, it has been connected with that country.

The second abridgement of this work Bṛhat-kathā-mañjarī was prepared in 1037 A.D. by Kṣemendra. Kṣemendra tried to condense a lengthy story in 7500 stanzas which made his work cumbersome. From two other abridgements of the Mahābhārata and the Rāmāyaṇa it can safely be inferred that his Kathāmañjarī is a faithful representation of the original.

The third abridgement of Bṛhatkathā was prepared by Somadeva between 1063 and 1081 A.D. It has eighteen chapters, 124 sub-chapters and 24000 stanzas. Kathā-sarita-sāgara is superior to Bṛhat-kathā-mañjarī in many respects. Somadeva is not obscure as Kṣemendra. Somadeva's style is attractive and simple. His knowledge of human nature is superb His work has all the characteristics of a mahākāvya. One of the most popular stories in this work is that of king Śibi who sacrificed his life to save a pigeon from a hawk.

Another old collection of the stories is Avadāna Śataka which was translated into Chinese in the middle of the 3rd century A.D. The purpose of these stories is to establish the doctrine of Karman. The author of this collection who must have been a Buddhist is not known. Kṣemendra took some of these stories and composed Avadānakalpalatā. Another book dealing with the life of Bodhisattva is the Jātakamālā of Ārya Śūra which was translated into Chinese in 434 A.D.

A collection of fairy tales is Vaitāla Pañcaviṁśati. It has 25 stories each of which ends in a solution to a difficult riddle. These stories are found in the Bṛhatkathāmañjarī and Kathāsarit-sāgara also. It has two prose versions by Jambhala datta and an anonymous author. Vallabhadeva made an abbreviation of this work. The popularity of this work is proved by the fact that it has been translated into many Indian languages.

Another work giving the feats of Vikramāditya in 32 stories is Siṁhāsana-dvātriṁśikā. These stories were narrated to king Bhoja. This work has many versions. One of them is a Jaina version by Kṣemaṅkara of the 14th century. A version is attributed to Vararuci in Bengal. In South India the work is known as Vikramārkacarita.

Another work of interest is Śuka-saptati. Its framework is amusing Its stories have a touch of humour. Religion plays a part in helping in morality in these tales. This work has also many versions in modern Indian languages. As Hemacandra was familiar with this work, it must have been composed before 1000 A.D.

Besides, there are some minor story collections also. Mention may be made of Kathārṇava by Śivadāsa, Kathā-mahodadhi of Somacandra, Kathāprakāśa of Jagannātha Miśra and Bhojaprabandha of Ballāla Sena.

Pañcatantra is undoubtedly the most famous collection of fables which has a circulation in the world, next only to the Bible. As it is clear from the name it has five sections. It is said that Viṣṇuśarmā composed this work extracting the essence of all Nīti-śāstras. The word Dināra has been used in this work, which shows that it was composed after the Christian era. It appears that the author of pañcatantra is indebted to the author of Arthaśāstra for any of the technical terms and political thoughts.

Hertel made a remarkable contribution in analysing different versions of the Pañcatantra. Primarily it has two distinct versions : Tantrākhyāyikā and Pañcatantra. The Syrian version resembles the version of Tantrākhyāyikā. It is written in a simple style. This text is of Kashmir origin.

Another version of Pañcatantra is that which was translated into Pahalvi in 570 A.D. The third version of Pañcatan-